

सिंघी जैन ग्रन्थ माला

*****[ग्रन्थांक ३२]*****

महामात्य - वस्तुपाल - कीर्तिकीर्तनस्वरूप - काव्यद्वय

महाकवि - सोमेश्वरदेव - विरचित

कीर्तिकौमुदी

तथा

कवि - अरिसिंह ठक्कर - विरचित

सुकृतसंकीर्तन



SINGHI JAIN SERIES

*****[NUMBER 32]*****

Two panegyric and historical poems describing the good deeds of the great minister Vastupal of Gujarat.

1. KĪRTIKOUMUDĪ

By Mahakavi Somes'vara Deva

2. SUKRITASAMKĪRTANA

By Kavi Arisimha Thakkura

क ल क सा नि पा सी
साधुचरित-श्रेष्ठिचर्य श्रीमद् डालचन्दजी सिंघी गुण्यस्मृतिनिमित्त
प्रतिष्ठापित एव प्रकाशित

सिंघी जैन ग्रन्थ माला

[जैन भागमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, कथामक - इत्यादि विविधविषयगुणित
प्राकृत, संस्कृत, भषभ्रदा, प्राचीनमूर्ता, - राजस्थानी आदि प्राणा भाषानिबद्ध सार्वभनीन पुरातन
पाठ्य तथा नूतन मसोधनामक साहित्य प्रकाशित्नी सर्वश्रेष्ठ जैन ग्रन्थावलि]

प्रतिष्ठाता

धीनद्-डालचन्दजी-सिंघीसत्युप

स्व० दानशील - साहित्यरसिक - संस्कृतिप्रिय

श्रीमद् वहादुर सिंहजी सिंघी



प्रधान सम्पादक तथा संचालक

आचार्य जिन विजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

निवृत्त ऑनररी डॉयरेक्टर

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

*

ऑनररी फाउंडर - डॉयरेक्टर

राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

ऑनररी मेंबर - जर्मन ओरिएण्टल सोसाईटी, जर्मनी भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना

(दक्षिण) गुजरात साहित्यमभा, अहमदाबाद (गुजरात) विश्वेश्वरानन्द वैदिक

शोध प्रतिष्ठान, दोसियारपुर (पञ्जाब) इत्यादि ।

*

सरक्षक

श्री राजेन्द्र सिंह सिंघी तथा श्री नरेन्द्र सिंह सिंघी

व्यवस्थापक

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

प्रकाशक - जे. ए. देवे, ऑनररी डॉयरेक्टर, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, न ७

मुद्रक - जयन्ती दलाल, वसन्त प्रिंटिंग प्रेस, पेल्लामार्डीनी बाघी, चौधोग, अहमदाबाद

महामात्य - वस्तुपाल - कीर्तिकीर्त्तनस्वरूप - काव्यद्वय
महाकवि - सोमेश्वरदेव - विरचित

कीर्तिकौमुदी

तथा

कवि - अरिसिंह ठक्कर - विरचित

सुकृतसंकीर्तन



संपादनकर्ता

अनेकग्रन्थभाण्डागारीद्वारक - विविधदुर्लभग्रन्थसंशोधक

जिनागमप्रकाशकारि - प्रतिष्ठानप्रवर्तक

आगमप्रभाकर - मुनिप्रवर श्री पुण्यविजय सूरि ।



प्रकाशनकर्ता

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्रशिक्षापीठ

भारतीयविद्याभवन, वस्त्रई



विद्यमान्द २०१०]

प्रथमावृत्ति

[विद्यमान्द १९९१]

ग्रन्थांक ३२]

मार्तण्डियर द्वारादित

[मूल्य रु० ६/६०]

SINGHI JAIN SERIES

ॐ अद्यावधि मुद्रितग्रन्थ नामावलि ॐ

- १ मेरुगुणाचार्यरचित प्रबन्धचिन्तामणि
गुल संस्हन ग्रन्थ.
- २ पुरातनप्रबन्धसंग्रह बहुविध ऐतिहासिकपरिपूर्ण
अनेक प्राचीन विग्रह सचय.
- ३ राजशेखरनुरिरचित प्रबन्धकोश.
- ४ जिनप्रभसूरिकृत विविधतीर्थकल्प.
- ५ मेघविजयोपाध्यायकृत देवानन्दमहाकाव्य.
- ६ यशोविजयोपाध्यायकृत जैनतर्कभाषा.
- ७ हेमचन्द्राचार्यकृत प्रमाणमीमांसा.
- ८ भद्राकलङ्कदेनकृत अकलङ्कप्रबन्धत्रयी.
- ९ प्रबन्धचिन्तामणि - हिन्दी भाषांतर.
- १० प्रभाचन्द्रसूरिरचित प्रभावकचरित.
- ११ सिद्धिचन्द्रोपाध्यायरचित भागुचन्द्रगणिकरित.
- १२ यशोविजयोपाध्यायरचित ज्ञानविन्दुप्रकरण.
- १३ हरिवेणुाचार्यकृत बृहत्कथाकीस.
- १४ जैनपुस्तकप्रशास्त्रिसंग्रह, प्रथम भाग.
- १५ हरिमद्रसूरिविरचित पूर्वाख्यान. (प्राकृत)
- १६ दुर्गादेवकृत रिष्टसमुच्चय. (प्राकृत)
- १७ मेघविजयोपाध्यायकृत विग्विजयमहाकाव्य.
- १८ कवि अब्दुल रहमानकृत सन्देशरासक. (अपभ्रंश)
- १९ भर्तृहरिकृत शतकप्रयादि सुभाषितसंग्रह
- २० शान्त्याचार्यकृत न्यायावतारवार्तिक-सूक्ति.
- २१ कवि धाहिलरचित पडमसिरीचरित. (अप०)
- २२ मधेश्वरसूरिकृत भागवंशमीकथा. (प्रा०)
- २३ धीमद्रथाहुआचार्यकृत भद्रथाहुमंथिया.

- २४ जिनेश्वरसूरिकृत कथादोषप्रकरण. (प्रा०)
- २५ उदयप्रभसूरिकृत धर्मोन्मुदयमहाकाव्य.
- २६ जयसिंहसूरिकृत धर्मोपदेशमाला. (प्रा०)
- २७ बीरब्रह्मविरचित लीलावई कथा. (प्रा०)
- २८ जितदत्ताख्यानद्वय. (प्रा०)
- २९, ३०, ३१ स्वयंभुविरचित पडमचरित.
भाग १, २, ३ (अप०)
- ३२ सिद्धिचन्द्रकृत काव्यप्रकाशखण्डन.
- ३३ दामोदरपण्डित कृत उत्तिव्यक्तिप्रकरण.
- ३४ मिश्रभिन विद्वत्कृत कुमारपालचरितसंग्रह.
- ३५ जिनपालोपाध्यायरचित श्वरवरगच्छ बृहद्दुर्वावलि
- ३६ उद्योतनसूरिकृत कुवल्यनाला कथा. (प्रा०)
- ३७ गुणपालमुनिरचित बंधुचरित. (प्रा०)
- ३८ पूर्वाचार्यविरचित जयपावड-तिलितदाख. (प्रा०)
- ३९ भोजगुणविरचित शृङ्गारमञ्जरी. (संस्कृत कथा)
- ४० धननारगणीकृत-भर्तृहरिशतकप्रयादीका.
- ४१ कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र - सटीक. (कतिपयअंश)
- ४२ विश्वसिलेखसंग्रह विज्ञप्तिमहाखण्ड-विज्ञप्तिनिषेणी
आदि अनेक विज्ञप्तिखण्ड समुच्चय.
- ४३ महेन्द्रसूरिकृत नर्मदासुन्दरीकथा. (प्रा०)
- ४४ हेमचन्द्राचार्यकृत-छन्दोऽनुदासन.
- ४५ वस्तुपालगुणवर्णनात्मक काव्यद्वय
कीर्तिकौमुदी तथा सुकृतसतीतैत
- ४६ सुकृतकीर्तिकौलिनी आदि वस्तुपालप्रशस्तिप्रद.
- ४७ जयशोभविरचित मंत्रीकर्मचन्द्रवंशप्रबन्ध.

Shri Bahadur Singh Singhi Memoirs

Dr. G. H. Bühler's Life of Hemachandrāchārya.

Translated from German by Dr. Manilal Patel, Ph. D.

- 1 स्व. बापू धीबहादुरसिंहजी सिंघी स्मृतिग्रन्थ [भारतीयविद्या भाग ३] सन १९४५.
- 2 Late Babu Shri Bahadur Singh Singhi Memorial Volume
BHARATIYA VIDYA [Volume V] A. D. 1945.
- 3 Literary Circle of Mahāmātya Vastupāla and its Contribution
to Sanskrit Literature. By Dr. Bhogilal J. Sandesara,
M. A., Ph. D. (S.J.S.33.)
- 4-5 Studies in Indian Literary History. Two Volumes.
By Prof. P. K. Gode, M. A. (S. J. S. No. 37-38)

ॐ संप्रति मुद्र्यमाणग्रन्थनामावलि ॐ

- १ विविधशास्त्रीय महावलि:संग्रह.
- २ जैनपुस्तकप्रशास्त्रिसंग्रह, भाग २.
- ३ गुणप्रभाचार्यकृत वितयसूत्र. (बौद्धशास्त्र)
- ४ रामचन्द्रकविरचित-महिष्मरुन्दादिनाटकसंग्रह.

- ५ तदग्रभाचार्यकृत पराशरवक्त्रबालावधोपहृष्टि.
- ६ प्रमुद्यनसूरिकृत मूलशुद्धिप्रकरण-सटीक.
- ७ कुवल्यमाला कथा, भाग २
- ८ सिद्धिचन्द्रसूरिविरचित मन्त्रांतरद्वय.

विषयानुक्रम ।

१. प्रासङ्गिक-चरितव्य

२. गूर्जरेश्वरपुरोहित महाकवि श्रीसोमेश्वरदेवविरचित कीर्ति- कौमुदीमहाकाव्य

पृ० १-४९

- (१) नगरवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः । १-६
- (२) नरेन्द्रवंशवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः । १-१२
- (३) मन्त्रिप्रतिष्ठा नाम तृतीयः सर्गः । १३-१६
- (४) दूतसमागमनो नाम चतुर्थः सर्गः । १७-२२
- (५) युद्धवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः । २३-२५
- (६) पुत्रप्रमोदवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः । २६-२९
- (७) चन्द्रोदयवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः । ३०-३३
- (८) परमार्थविचारो नाम अष्टमः सर्गः । ३४-३६
- (९) यात्रासमामगमनो नाम नवमः सर्गः । ३७-४२

३. प्रथम परिशिष्ट

पृ० ४३-८८

- (1) Kathavate's Introduction to the first edition of Kirtikaumudi 43-59
- (2) Professor G. Bühler's critical study of the Sukritasamkirtana of Arisimha 60-82
- (3) Introduction of the Sukritasamkirtana text of late Muniraj Shri Chaturvijsayaji Maharaj 83-88

४. कीर्तिकौमुदी-सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्यगत-विशिष्टनामानुक्रम । ८९-९९

५. द्वितीय परिशिष्ट-

महाकवि-अरिसिंहविरचित सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्य ।

पृ० ९५-१३६

- (१) चापोत्कटान्वयवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः । ९६-९९
- (२) चौलुक्यान्वयवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः । ९९-१०४
- (३) मन्त्रिप्रकाशो नाम तृतीयः सर्गः । १०४-१०७
- (४) घर्मोपदेशनो नाम चतुर्थः सर्गः । १०७-११०
- (५) सत्प्रस्थानो नाम पञ्चमः सर्गः । १११-११४
- (६) सूर्योदयवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः । ११५-११७
- (७) शत्रुजयदर्शनो नाम सप्तमः सर्गः । ११८-१२१
- (८) पद्मस्तुवर्णनो नाम नवमः सर्गः । १२५-१२९
- (९) पुत्रप्रवेदो नाम दशमः सर्गः । १२९-१३३
- (११) सकलकीर्तनकीर्तनो नामैकादशः सर्गः । १३३-१३६

६. कीर्तिकौमुदीमहाकाव्यस्यश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः । १३७-१४७

७. सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्यस्यश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः । १४८-१५६

प्रासंगिक वक्तव्य

*

गूर्जर महामात्य वस्तुपालकी कीर्तिको काव्यबद्ध करनेका जिन कर्मियोंने प्रयत्न किया है उनमें राजपुरोहित कवि सोमेश्वर और ठकुर अरिसिंह मुख्य हैं। कवि सोमेश्वरने कीर्तिकौमुदी नामक काव्य रच कर और अरिसिंहने सुदृत्तसमीर्तन काव्य बना कर, वस्तुपालको यश कीर्तिको युगान्त तक स्थिर रखनेका सद्यप्रयत्न किया है।

कीर्तिकौमुदी काव्यका कर्ता कवि सोमेश्वर सुप्रसिद्ध व्यक्ति है। वह वस्तुपालका अनन्य मित्र और राजपुरोहित था। वस्तुपालके गुणोंका वह बहुत अनुरागी और प्रशंसक था। वस्तुपालकी सुद्वीरता और दानवीरता का वह प्रत्यक्ष साक्षी था, इसलिये उसके काव्यकी गुणवत्ताका महत्त्व बहुत है। कविता की दृष्टिसे भी यह काव्य बहुत उच्च कोटिका है।

इस काव्यका, बहुत पहले (सन् १८८३ में) अहमदाबादके गुजरात कालेजके सस्कृतके प्रोफेसर ए. वी. कायटे नामक विद्वान्ने संपादन कर 'बॉम्बे सस्कृत सीरीज़' नामक ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशन किया था। प्रो. कायटेने इसकी भूमिका रूपसे एक बहुत विस्तृत इंग्रेजी प्रस्तावना लिखी, जिसमें काव्यगत बातोंका विस्तृत उद्घापोह किया है। प्रो. कायटेने संपादित यह पुस्तक अत्र बालम्ब्य है। इसलिये इसका पुनर्मुद्रण करनेकी दृष्टिसे प्रस्तुत प्रकाशन किया गया है। मूल ग्रन्थके सशोधनमें कुछ अन्य प्राचीन हस्तलिखित पोथिया भी और मिल आईं, इसलिये इसका यह प्रकाशन अधिक शुद्ध हो गया है।

इसके साथ, कवि अरिसिंह विरचित सुदृत्तसमीर्तन काव्य भी सम्मिलित कर दिया है। क्यों कि ये दोनों काव्य, वर्णन और वस्तुकी दृष्टिसे, परस्पर बहुत कुछ साम्य रखते हैं।

'सुकृतसमीर्तन' काव्यकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति, जब स्व० जर्मन महाविद्वान् डॉ. ग्युहलरको मिली तो वे इसको देख कर बहुत आश्चर्य हुए और इस पर उन्होंने जर्मन भाषाके एक सुप्रसिद्ध साहित्यिक जर्नल में, बहुत बड़ा निबन्ध लिख कर प्रकट किया। उस निबन्ध के महात्मको देख कर, इ. एच्. बर्नेस नामक इंग्रेज विद्वान्ने, उसका इंग्रेजी अनुवाद कर, इन्डियन एन्टीक्वैरी नामक सुप्रसिद्ध पत्रिकामें प्रकट किया। पर मूळ सस्कृत काव्य कहीं प्रकट नहीं हुआ था। इसलिये स्वर्गासी मुनिवर श्री चतुरविजयजी महाराजने, इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिपा प्राप्त कर, भावनगर की जैन धामानन्द समा द्वारा प्रकाशित होने वाली 'आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला' के एक ग्रन्थके रूपमें प्रकाशन किया। यह प्रकाशन भी अब अप्राप्य है, अतः इसका पुनर्मुद्रण भी इसके साथ कर देनेका हमारा निश्चार हुआ। इस प्रकार इसका पुनः प्रकाशन करनेकी हमारी इच्छाका मुनिवर्य श्री पुण्यनिजयजी महाराजने सदैव स्वीकार कर, अपने स्वर्गीय गुरुमहाराजके संपादनको सुप्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार 'कीर्तिकौमुदी' और 'सुकृत समीर्तन' इन दोनों काव्योंका समुक्त प्रकाशन कर देना जब निश्चित हुआ, तो हमारे मनमें इन दोनों काव्योंके परिचयस्वरूप जो उक्त दो इंग्रेजी निबन्ध लिखे गये हैं, उनको भी इसमें सम्मिलित करना अधिक उपयुक्त था। क्यों कि ये दोनों निबन्ध अत्र अप्राप्य हैं, और उन निबन्धोंके विद्वान् लोगोंके द्वारा जिस परिश्रम और जिस अध्ययनने फलस्वरूप ये प्रौढ निबन्ध लिखे गये हैं, मर्यादा सरभूषण और मदैव पटनीय हैं। अतः हमने उन दोनों निश्चित निबन्धोंको भी यथासम्भव इस प्रकाशनमें सुमिल कर दिये हैं।

ख० मुनिवर्य श्री चतुर्विजयजी महाराज द्वारा संपादित और प्रकाशित 'सुदृत सकीर्तन' काव्यके प्रास्ताविक रूपमें, ख० विद्वान् चिमनलाल डा. दलाल (गायकवाड्स ओरिएण्टल संरीस, वडोदा, के मूल प्रतिष्ठापक)ने, मन्थपरिचयात्मक छोटासा इंग्रेजी वक्तव्य लिखा था, उसको भी हमने इसके साथ संकलित कर देना उचित समझ कर, वैसा किया है । इस वक्तव्यमें वस्तुपात्रके कीर्तिकलापोंका वर्णन करने वाली समसामयिक जितनी रचनाएँ, उपलब्ध हैं, उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है ।

महाभाग्य वस्तुपालके जीवन और कार्योंसे संबद्ध जितनी समकालीन साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं उनका संक्षिप्त परिचय, हमने इस ग्रन्थमालाके ४ र्थ ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित 'धर्माभ्युदय महाकाव्य'के किंचित् प्रास्ताविकमें लिखा है । उससे संबद्ध 'सुदृतकीर्तिकलोलिनी' आदि वस्तुपालकी प्रशस्त्यात्मक रचनाओंका तथा उसके बनाये हुए मन्दिरों और मूर्तियोंके जितने शिलालेख अभी तक प्राप्त हुए हैं उन सबका भी, एक संप्रह ग्रन्थ, इसी ग्रन्थमालाके ५ वें ग्रन्थके रूपमें प्रकट किया गया है ।

पहले, प्रस्तुत काव्य द्वय भी उसी संप्रहके अन्तर्गत संकलित रूपमें प्रकट कर देनेका विचार रहा और तदनुसार इसका मुद्रण कार्य भी कराया गया । परंतु पीछेसे प्रो कापस्टे लिखित 'कीर्तिकौमुदी' को इंग्रेजी प्रस्तावना और डॉ न्युहल्लर लिखित 'सुकृत सकीर्तन' काव्यका विशिष्ट परिचायक बहुमूल्य निबन्धका इंग्रेजी अनुवाद भी, इसमें संकलित कर देनेके विचारसे, प्रस्तुत ग्रन्थ को, अब ग्रन्थमालाके ३२ वें ग्रन्थके रूपमें, पृथक् प्रकट किया जा रहा है ।

'धर्माभ्युदय महाकाव्य' 'सुकृतकीर्तिकलोलिनी आदि वस्तुपाल-प्रशस्तिसंप्रह' तथा प्रस्तुत 'कीर्तिकौमुदी तथा सुदृतसकीर्तन काव्य द्वय'—इन तीनों ग्रन्थोंका संपादन कार्य विद्वद्भक्त मुनिमहोदय श्री पुष्पविजयजी महाराजने किया है और इसके लिये हम इनके प्रति, अपना पुनः पुनः सादर श्रुतज्ञान प्रकट करना कर्तव्य समझते हैं ।

महावीर जन्मदिन, चैत्र शुक्ल १३, स २०१० }
ता २० मार्च, १९६१, भारतीयविद्यामनन, बंबई }

—मुनि जिनविजय

—आभार प्रदर्शन—

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें जो द्रव्य व्यय हुआ है उसका अर्द्ध भाग भारत सरकारने देनेकी उदारता प्रकट की है, अतः इसके लिये हम भारत सरकारके प्रति अपना सादर आभार प्रकट करते हैं ।

गूजरेश्वरपुरोहित-

महाकविश्रीसामेश्वरदेवविरचितं

कीर्तिकौमुदीमहाकाव्यम् ।

(महामात्यश्रीवल्लुपालचरितात्मकम्)

प्रथमः सर्गः ।



॥ नमः सर्वज्ञाय ॥

मन्त्राचारणम्

- त्रिये सन्तु सतामेते, चिरं चातुर्भुजा भुजाः । यामिका इव धर्मस्य, चत्वारः स्फुरदायुधाः ॥ १
- कुर्वन् गिरिभुवि क्रीडां, दृष्टोक्तपयोधरः । वैडसचन्द्रकः प्रीतिं, नीलैरुण्ठः करोतु वः ॥ २
- बटा-सीमन्तकान्तं वः, धियेऽस्तु शिवयोर्वपुः । तातेत्यस्येति वैऽऽहृतं, गुहेन प्रतिवक्ति यत् ॥ ३
- भूयान्मुदे तदेकं वः, शिव-शेखरयोर्वपुः । करोति प्रगतिं यस्य, भीतः प्रीतश्च मन्मथः ॥ ४
- सारस्वतैर्मयं वन्दे, तनोपहनहं महः । अपि सूत्रपदार्थानां, साक्षात्कारं करोति यत् ॥ ५
- सारस्वतीं सदा वन्दे, यदुर्पास्तिससुच्छिद्रताः । काव्यानि कुसुमानीव, सुवते कविपादपाः ॥ ६

कविवर्णना

- वन्द्यास्ते कवयो येषां, सूक्तिसौरमवासिता । कृतत्रिजगदाह्लादं, कीर्तिर्भ्रमति भुजाम् ॥ ७
- जयन्ति कवयः केऽपि, सूक्तैर्भ्रन्त्रैरिव द्रुतम् । तांस्तांश्चिद्रूपचिचेपु, रसानावेधैर्यन्ति ये ॥ ८
- मधुना लसदुक्तां, कविपदपदभिनीम् । रामायणकवेस्तस्य, हृद्यां वन्दे सरस्वतीम् ॥ ९
- स्तुमस्तमेव बाल्मीकिं, यत्प्रसादात् प्रगस्यते । लौकैर्दाशरथं वृत्तनपि ध्रैवजदुःखकृन् ॥ १०
- स नमस्यः कथं न स्यात्, सतां सैत्यवतीमुतः । सुपयोषचितं चक्रे, यः स्वर्गमिव भारतम् ॥ ११
- कालिदासः कविर्नान, श्रीरामचरितस्य यत् । स एष शर्करायोगः, पयसः समपयत् ॥ १२
- विरक्तधेदु दुर्लभ्यो, निर्वृतिं वाऽथ वाञ्छसि । वयस्य । कथ्यते तथ्यं, माघसेवां कुरुष्व तत् ॥ १३
- सैन्धवैर्गुणैर्गङ्गा, शैवीस्यमुष्णप्रसिद्धः । सकेतः शरदेर्गतिः, कृतिः कुम्भस्यभिषयः ॥ १४
- शुक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा, कवयो मौनमाश्रिताः । वैष्णव्यनावनव्यैर्यो, भवतीति स्थितिर्यत् ॥ १५
- वचनं धनपालस्य, चन्दनं मलयस्य च । सरसं हृदि विन्यस्य, कोऽभूवान्न न निर्वृतः १ ॥ १६

१ " गन्धस्वाये " (सिद्धहेमचन्द्र १-२-१२) इति सूत्रेण चतुर्षां, धियः कर्तुं सन्तु इत्यर्थः इति टिप्पणी वा० पुस्तके ॥ २ पार्वत्याम्, पक्षे पर्वतभूमौ वा० टि० ॥ ३ स्तना मेधाध वा० टि० ॥ ४ लल्लव्य चन्द्रो यस्य " बोधात् " (सिद्धहेम ७-२-१०५) इति बहुमीशै कर्त्, पक्षे चन्द्रका. चापला इति स्या. वा० टि० ॥ ५ 'श्वरो मधूरथ वा० टि० ॥ ६ वाऽऽहृतं' प्र० वास० ॥ ७ 'तमहं धं' प्र० । 'तमयं' धं इति स्थाने 'तमिदं वं' इति चशोधितं पाठं वा० ॥ ८ 'पास्तिसं' मु० ॥ ९ स्थापनामन्त्रे वा० टि० ॥ १० स्थापयन्ति वा० टि० ॥ ११ पक्षे सरवणो यो दशरथेन हतः वा० टिप्पणी ॥ १२ कृष्णद्रोपायनव्याध वा० टि० ॥ १३ देवाः, पक्षे क्षोभना अधिकाराः वा० टि० ॥ १४ जनितम् अर्जुनस्य-पार्यस्य बल वेन तम्, अर्थाद् युधिष्ठिरम्, पक्षे अर्जुनं-विर्मलम् वा० टि० ॥ १५ तनीश्वरं-चन्द्रम् वा० टि० ॥ १६ माघः कवीश्वरः शरथ वा० टि० ॥ १७ अणोद्गाड वा० टि० ॥

विलङ्घयत्य क्वचः प्रात्प्रसादैव सरस्वती । नीयते जातु काल्दभ्यं, दुर्जनैर्न फनैरपि ॥	१७
सदा हृदि बहेम श्रीहेमसूरेः सरस्वतीम् । मुवया शब्दरत्नानि, ताम्रपर्णी जिता यया ॥	१८
स्तुम. सुमनसां श्रेष्ठं, नीलकण्ठमहर्निगम् । दर्पकोपचिन्तं यस्य, सर्वज्ञस्य न मानसम् ॥	१९
श्रीमहाद्मनदेवोऽभूत्, द्वितयेन प्रसिद्धिमान्-न पुत्रत्वेन सरस्वत्याः, पतित्वेन जयधियः ॥	२०
श्रीभोज-मुञ्जदुःखार्ता, रम्यां वर्तयता कथाम् । प्रहादनेन साहादा, पुनश्चक्रे सरस्वती ॥	२१
कर्षन्श्च मुनीन्द्रश्च, नरचन्द्रो जयययम् । प्रशान्तिर्यस्य काश्येयु, सङ्क्रान्ता हृदयादिव ॥	२२
मुनेर्विजयसेनस्य, सुधामधुरया गिरा । भारतीमञ्जुमङ्गोस्वरोऽपि परभूदन्तः ॥	२३
मुमदेन षट्पद्यास, स कोऽपि सैमितौ वृत्तः । येनाधुनाऽपि धीराणां, रोमाञ्चो नापचीयते ॥	२४
न्यवात्रपाकेन यो वाचां, पाकं शास्यपसान् फवीन् । स्वयं हरिहरः लोऽभूत्, कवीनां पाकदासनः ॥	२५
न माद्यः श्वापते कैश्चिन्नाऽभिनन्दोऽभिनन्वते । निष्कल कालिदासोऽपि, यशोवीरस्य सन्निधौ ॥	२६
प्रकाशयते मृदा साशद, यशोवीरेण मन्त्रिणा । मुने देतयुता माली, करे श्री. स्वर्णमुद्रया ॥	२७
जर्जितास्तो गुंणास्तेन, चैहमानेन्द्रमन्त्रिणा । विपेरश्वेध मन्दिषी, यैनेन नियन्त्रिते ॥	२८
वस्तुपाल-यशोवीरि, सत्यं वाग्देवतामुतौ । एको दानस्वभावोऽभूत्सुभयोरन्यथा कथम् ? ॥	२९

सज्जन-दुर्जनवर्णना

हृदा यावत्परिवृत्ता, निर्व्यान्ता मलयद्रुमा । अनाल्लिप्यष्टतो दीपाः, श्रीवात्रं सन्तु साप्यः ॥	३०
साधूनां द्रुम्भता फाचिदचिन्त्यैव तथाहि ये । परंपामेव गृह्णाति, गुणान् भूरिगुणा अपि ॥	३१
रमयन्ति न कं नाम, सन्तःश्यायाद्रुमा इव । बुभ्यन्ति स्मितमुष्पं ये, मूर्चितोभे.फलोदयम् ॥	३२
वश्यैर्मानस मन्ये, सपूर्णं सततं सताम् । रम्यदेनेव तद्भीमेन, वाचो मुबन्ति नाऽऽर्जनाम् ॥	३३
अश्रुप्रयतैर्धैरिषिं किं तेरसाधुभिः । रसवया कवेरफो, मालिन्यं जनयन्ति ये ॥	३४
शुद्धिकाना मुजङ्गानां दुर्जेलानां च कथसा । रिमःय नियते र्व्यनै, विपे पुष्टे मुवं हृदि ॥	३५
अस्मिन् कलौ खट्वेसुदुष्टवामागदादराणे । कथं जीरेज्जगत् स्तु, सन्नाहाः सज्जना यदि ? ॥	३६
निदानं नात्र पन्थामि, यदुपेयापि दुर्जेना । आक्रोमन्ति मृगी साधुत्वममानिव कुर्तुंगा. ॥	३७
दोषज्ञैस्तेन गौत्रेण, मह सापनग समा । व्याभ्याऽप्यकरमूर्ध्नि, सहसा फनरातमा ॥	३८
दुर्जेनेन्मर्थमानस्य, माधेगधिकमेधते । भग्मनिर्गुणयमानस्य, मुदृग्देव चाळता ॥	३९
आम्ना तावत् वृत्तजोष. मद्रमोदोऽपि दुर्जेन । कष्टाय ज्ञायने दृष्टो, ग्नेगानिव वायसः ॥	४०
दुर्जेनानां शिक्षिद्वक्ष्यतिरिक्ता मूर्धेर यत् । निर्वोचनानिना तेनामुचिता मन्दिहता ॥	४१
अभिन्न्ससमागन्दे, स्वर्गेनात्पमदूटे । चम्प सज्जनागया, शिन्विष्यन्भीमदन्तु मे ॥	४२

१ हृदि, पक्षे इतरम् वा० टि० ॥ २ 'द्विदृश्य' मु० ॥ ३ 'मिती-श्यायन्ते वा ग कोऽपि पदन्वार' इत् ॥ ४ 'ये मन्दिनी मृद्वनं वा० टि० ॥ ५ 'द्विदृश्यं वा० टि० ॥ ६ 'वदी' मन्दिनी इत्यत्र वा० टि० ॥ ७ 'द्विदृश्यं मन्दिनी' वा० ॥ ८ 'वदी' वा० प्र० वा० ॥ ९ '११ (दुर्जेनेन चम्प) वा० टि० ॥ १० 'औशक' इत्यत्र, पक्षे इत् वा० टि० ॥ ११ 'वद्वज्ज' वा० टि० ॥ १२ 'हृदय' इत्यत्र, मु० ॥ १३ 'मुष्प' इत्यत्र, मु० ॥ १४ 'वाचं' प्र० वा० ॥ १५ 'तमानि' प्र० ॥

भाति यत्र कपोलात् सङ्क्रान्तेन्दुर्वधूजन । राजमुद्राद्वित फोन, कन्दर्पद्वपतेरिव ॥	६७
यत्र यत्र प्रसर्पति, सर्लीक यन्मृगोदश । दासीन ददिरवनि, तत्र तत्र विलासिनाम् ॥	६८
वक्षिता वल्लिप्रवीरं, तर्वाभिर्यत्र केऽपि ^१ ये । मन्वे व्यावर्तिनाङ्गेन, तेऽनङ्गेनापि ^२ ताडिता ॥	६९
रूपेणाप्रतिमा क्राता, यत्र धाना घृता क्रि ^३ । तथापि प्रनिनान्तासा, सञ्जाता रत्नविचिपु ॥	७०
स्नात्वा सरसि सौरम्य, लंघ्योयानादुपाहरन् । तमीसमीरण खेण, यत्र फार्माव सेवते ॥	७१

सिद्धसरोवर्णनम्

यस्मिन् सरो हरोपेद्रासादौ परितद्वितम् । आनुक्तमौक्तिक भूमेर्भाचेकमिव कुण्डम् ॥	७२
आमानि यस्य गन्धर, सर स्मरै सरोर्गहै । खेल्तांभा सुरत्र तोयदेवनाना मुखैर्दिव ॥	७३
यस्यान्तर्गिरिशगारैर्दीपका प्रतिविम्बिता । शोभन्ते निगि पातालन्यालमौष्मिप्रिथिय ॥	७४
यस्योच्चै सरसस्त्ये, राजने रजतो च्यल । कीर्तिस्तम्भो नमोगङ्गाप्रवाहोऽध्वतरत्रिव ॥	७५
हरप्रासादसन्देहमनोहरमिद्र सर । राजते नगर तच्च, राजहसैरलङ्कृतम् ॥	७६

सदाह्व-चैत्र प्रथितप्रभृतावेतारशाली कमलाभिराम ।

स एष कासारशिरोवतस, कसप्रहर्तु प्रतिमा धिर्मति ॥

७७

न मानसे^४ मायति मानसं मे, पम्पा न सत्पादयति प्रमोदम् ।

अच्छोदमच्छेदरुम्यसाग, सरोवरे राजति सिद्धमर्तु ॥

७८

प्रतितदपटितोर्निर्वातजातप्रसृमस्फेनकद्रम्बकच्छेन ।

हेरहसितसितपुति स्वकीर्ति, दिशि दिशि कन्दल्यस्यय तडाग ॥

७९

अञ्जुलहरिल्लिख्योमभागे तडागे, तरलतुहिनपिण्डपाण्डुडिण्डीरदम्भात् ।

तरुणतरगितापणयापदापनमुचैरिह विहरति नाराचक्रवाल विनालम् ॥

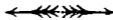
८०

एकत्र स्फुटदञ्जराजनिजसा बभ्रुकुन मुधुवा, प्रभ्रदयकुचकुम्भतुङ्गुमरसेरयत्र गतीकृत ।

अ-यत्र स्मितनीलनारजलदलच्छोयेन नीलीकृत, श्रेय सिन्दुरवैर्गेण्णल्लैयुरा धवे सर शेवर ॥

८१

॥ इति श्रीगृह्यसूत्रोद्दिष्टश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि
महाकाण्डे नगरवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥



१ 'पि यत् प्र० सु० ॥ २ 'पि पीडिता वा० ॥ ३ 'दीपिका सु० ॥ ४ 'चक्रप्रथित प्रभू'
सु० ॥ ५ अस्मत्कारस्त्रीर्पमिथा पक्षे 'मस्य' १ कृत्वा ३ वराह ३ श्व' इत्यादि दशावतारा या० टि० ॥
६ प्रतिमां प्र० ॥ ७ 'से मय' सु० ॥ ८ देवसरोवरं श्रीनिन्दरान्नजयतिहदेन्म्य या० टि० ॥
९ हरिहरहसितपुति सु० ॥ १० अन्यत्र प्र० वा० ॥ ११ "सेनापालासुराच्छाय-" २ । ४ । २५ ।
इति न पुलस्त्य या० टि० ॥ १२ 'वर्णक' प्र० ॥ १३ घृत् सु० ॥

द्वितीयः सर्गः ।

चौकुक्ष्यवंशवर्णनम्

- अथ चौकुक्ष्यभूपालः, पालयामास तत् पुरम् । जितराजसमाजः श्रीमूलराज इति श्रुतः ॥ १
- आवर्जिता जितरारातेरुणैर्बाणिरिपोरिव । गूर्धरेश्वरराज्यश्रीर्यस्य जज्ञे स्वयंवरा ॥ २
- लाटेश्वरस्य सेनायमसामान्यपराक्रमः । दुवारं वारपं हत्वा, हास्तिकं यः समग्रहीत् ॥ ३
- सपत्राकृतैशत्रूणां, संप्रराये त्वंपत्रिणाम् । महेच्छैः कच्छभूपालं लक्षं लक्षं चकार यः ॥ ४
- दानोपद्रुतदारिद्र्यं, शौर्यनिर्जितदुर्जनम् । कीर्तिस्वगितकाकुत्स्थं, यो राज्यमकरोच्चिरम् ॥ ५
- तस्मिन्नथ कथाशेषे, निःशेषितनिजद्विपि । राजा चामुण्डराजोऽभून्महीमण्डलमण्डनम् ॥ ६
- विरोधिश्चिताचित्तातापध्यापनपण्डिताः । यदीयाः कटकाम्भाः, कृतजन्मारिनीयतः ॥ ७
- पाणिपङ्कजवर्तिन्या, स्फुरत्कोशैर्विलासया । यस्यासिभ्रमरश्रेण्या, भिन्ना वंताः क्षमाभृताम् ॥ ८
- लोकैत्रयोल्लसत्कीर्तिर्महीपतिमतल्लिका । राजा बलभराजाख्यस्तत्तत्तनुगुरगूत् ॥ ९
- सम्भूतकम्पसम्पत्तैर्वदातङ्गेन केनचित् । जगाल मालवेशस्य, करवालः करादपि ॥ १०
- उपरुन्धन् विरुद्धानां, पुरीं पुरुपपौरुषः । जगैजङ्गम्पन इत्येष, विशेषैर्लदीरितः ॥ ११
- बभूव भूपतिस्तत्थावरोको विरजस्तमाः । श्रीमान् दुर्लभराजाख्यः, सुदुर्लभयगाः परैः ॥ १२
- कालेन करवालेन, भोगिनेवाभिरक्षितम् । निधानमिव यद्राज्यमनाहार्यं परैरमूत् ॥ १३
- सर्वथाऽनुपमोग्येषु, यस्य सौभाग्यभासिनः । न करः परदारेषु, द्विजंसारेषु चापतत् ॥ १४
- तस्य भ्रातृसुतः श्रीमान्, भीमाख्यः पृथिवीपतिः । विष्टपत्रितयाभीष्टप्रवृत्तिप्रतिभूम् ॥ १५
- मण्डैलाप्रेण यः दैत्यैर्गण्डिना विरुद्धतस्मिंतम् । चकार भोजमभोजमिव पीयूषदापितिः ॥ १६
- एकधारापतिर्यस्य, द्विधारेणासिना जितः । किं विभे ? यदसौ जेतुं, दातधारमपि क्षम ॥ १७
- असौ गुणोति मवेव, भोजः कण्ठमुपेयुषा । धनुषा गुणिना यस्य, नश्यन्मघन्न पातितः ॥ १८
- मुंपण्कितनाम्बुगै, तत्र क्षत्रपतौ गते । धौत्रीं पोत्रीं तपुवः, श्रीकृष्णैः सार्णगं दधे ॥ १९
- गुरुणा विक्रमेगार्धं, बभूव पितृसन्निभः । आकारेण तु रम्येण, मूपोऽमृदाग्नमूसदृक् ॥ २०
- विना कर्णेन तेन स्त्रीभेरागां न रतिः कश्चिन् । इतीव जज्ञिरे तेषांमुपकर्णं प्रवृत्तयः ॥ २१

१ नारायणस्य धा० टि० ॥ २ अयन्तरीवित्तः धा० टि० ॥ ३ समते धा० टि० ॥ ४ दधतु-
पाम् धा० टि० ॥ ५ महेच्छकच्छभूपालं लक्षं लक्षौचकार मु० ॥ ६ उदारः धा० टि० ॥ ७ लाप
इति सामानम् धा० टि० ॥ ८ लक्षौचकार मु० १ वेप्यम् धा० टि० ॥ ९ 'पदत' मु० ॥ १० क्षेत्रः
सह्यपिधानम्, पक्षे कुड्मलम् धा० टि० ॥ ११ लोकोत्तरलस' प्र० ॥ १२ 'गाकन्य' मु० ॥ १३
सादृश्यपनेषु धा० टि० ॥ १४ सार्णेन, पक्षे प्रधानमण्डलेन धा० टि० ॥ १५ तीक्ष्णराम, पक्षे शीतलराम
धा० टि० ॥ १६ दास्य विदास्य धा० टि० ॥ १७ नारायणसमीपम्, सार्णमित्यर्थः धा० टि० ॥ १८
'श्रीं धात्रीप्रपौत्रीं च धीं' मु० ॥ १९ वराहः धा० टि० ॥ २० 'पामनुक' मु० ॥

तच्छर्गा-ऽर्जुनयोर्वरं, पूर्वं कर्णं स्मरन्निव, । गर्जुनं गमयामास, यशो देशान्तराणि यः ॥	२२
अभिरामगुणप्राप्तो, गगो दशरथाद्रिव । गूनुः श्रीजयसिंहोऽस्मान्जायते स्म जगज्जयी ॥	२३
मिश्रुताऽपि श्रेयासंरधीष्वृत्तिमतीशुया । रषा मुञ्जियतां नीताः, पिश्रुता येन भुसुजः ॥	२४
अपारधोस्पोदारं, राद्धारं गुग्मसग । सौराष्ट्रं पिश्रुवानाजौ, करिणं केसरीय यः ॥	२५
असङ्गचहृगिसैन्धेन, प्रतिपानेकमृषता । वदः सिन्धुपतिर्येन, वैदेहीधियतेन वा ॥	२६
अमर्षयं मन युयैन्, विपत्तीर्षीमृदुनौ । अगत्य एव यन्मूर्धमर्षोराजमशोषयत् ॥	२७
गृह्णीता दुद्रिता तूर्णमर्षोराजस्य विश्रुता । दत्ताऽनेन पुनस्तस्मै, मेरोऽभूत्तुमयोस्यम् ॥	२८
दिपां शीर्षाणि हृनानि, दृष्ट्वा तपादयो पुरः । चक्रे शाकम्भरीशोऽपि, शङ्कित प्रणतं शिरः ॥	२९
मालवस्वामिनः प्रौढलम्बीपरिवृढ स्वयम् । समित्यपरमारो व, परमारानमायन् ॥	३०
क्षिप्त्या धारापतिं राजशुकवत् काशपञ्चरे । य काशपञ्चरे कीर्तिगगन्हेमी न्यवीविशत् ॥	३१
ण्डैव अगृहं धारा, नगरी नरन्मर्षणः । दत्ता येनाशुधारास्तु, तद्रूपा सहस्रधा ॥	३२
धारामहप्रसङ्गेन, वैश्याऽऽमनस्य शङ्कितः । प्रावृणोक्तभिषाद दण्डं, मेहोचकपतिर्यैशौ ॥	३३
सुधेव वसुधा ह्यन्तु, चाच्छिता येन विद्रिया । यस्तोद्धसदसिर्गहं, राहचक्रे तमाहने ॥	३४
अनेन मेने य स्वामी, कुमार इव शक्तिमान् । ताम्रचूडव्यञ्ज सोऽमृतं, क्रित्तु केक्रियञ्ज परः ॥	३५
येन विश्वैकवर्णिण, न स राजा जितो न यः । काश काऽपि न सा यस्य, यशोभिः शोभिता न या ॥	३६
गणेशस्येव यस्याऽय्यपुष्करस्य धृषितियते । आन्यसारः करस्थेऽभूद्, गौडो मोदकवद्वृष ॥	३७
श्मशाने यातुगानेष्टं, वदन्वा धर्वरकाभिषम् । सिद्धराजेनि राजन्सुयो जज्ञे राजगजिषु ॥	३८
रजोभि समरोद्भूतैर्यत् पुरा मल्लिनोक्तम् । तत् पश्चात् कीर्तिकञ्जोऽैर्येन क्षात्रिमन्त्रम् ॥	३९

महीमण्डलमार्ग्ये, र्त्तं लोकात्तरं गते । श्रीमान् कुमारपालोऽय, राजा रञ्जितवान् प्रजा ॥	४०
पृथुप्रभृतिभि पूर्वीगच्छदि पार्थिवैर्दिवम् । स्वकीयगुणनानां, यत्नव्यास एवापिन ॥	४१
न केवलं महीपाला, सायके समराङ्गणे । गुणैरोद्गुणैर्येन, निजिवा पूर्वा अपि ॥	४२
मुकुटैरुतैर्यस्य, धनविनानि मुबज । देवस्येव सुदेवस्य, पुक्ताऽमृदसृतार्थिना ॥	४३
करवालज्जै भ्राता, वीरागामेय योऽग्रहृष्ट । धीतां चाप्याशुगगनिर्निरीरीणा न तु श्रियम् ॥	४४
दराणा सन्मुतात्येव, पदानि सगरे वदौ । य पुनस्तकल्लेषु, मुग्धं चक्रे पराङ्मुगम् ॥	४५
हृदि प्रविष्टयद्वाणिक्रिष्टेनामूर्तिगतं शिर । जाङ्गलशोणिपांजन, व्याचक्षणं परैरपि ॥	४६
शूडारलप्रभाकरं, नक्ष्रे गर्वादकुर्वन् । कजरा कुङ्कणैरस्य, यथकार शैः शिरः ॥	४७

१ इन्द्र वा० टि० ॥ २ वा टायं वा० टि० ॥ ३ "राधांस्मरं" मु० ॥ ४ यस्य सान्निध्यशः
मु० ॥ ५ महोदयपति" प्र० वा० ॥ ६ एतन्मानन्ममस्मभार्येस्वप्राचीनप्रतिद्वेष्यनुगलम्बमान मुदिनपुस्तकः
दिग्गमामधिकमेकं पद्य निश्चिन्त वन्ते । तथाहि—

महोदयपुराधीशाञ्जितलम्बदनवर्मणः । कोटीः पण्णवतीर्हेम्नो, यस्तन्मानमियाऽऽवृद्धे ॥
७ एव पुष्पम्, पक्षे गुरव वा० टि० ॥ ८ यत्र वा० ॥ ९... .. रते" प्र० । धीतरागरते मु० ।
मुक्तिपुस्तकगोऽय पाठः केनचिद् रिच्छस्थाने कथयित्वा धूमि, न चानौ मनीर्चन इति ॥ १० "रणां मु
न धि" प्र० वा० । निःशक्तिमुतावा वा० टि० ॥

रागाद् भूपालवृत्तल-मलिकार्जुनयोर्मैत्रे । गृहीतौ येन मूर्धानौ, स्तनाविव जयश्रियः ॥	४८
दक्षिणक्षितिर्पिं जित्वा, यो जग्राह त्रिपद्वयम् । तद्यशोभिः करिस्थामो, विश्वं नश्यद्विपद वयम् ॥	४९
विहारं कुर्वता वैरिनिताकुचमण्डलम् । गृहीमण्डलगुण्डविहारं येन निर्ममे ॥	५०
पादलानैर्महीपालैः पशुमिश्र तृणानैः । यः प्रार्थित इवात्यर्थमार्हिसाव्रतमग्रहीत् ॥	५१
भूपालोऽजयपालोऽभृत्, कल्पद्रुमसमस्ततः । चक्रे वसुन्धरा येन, काञ्चनैरनकिञ्चना ॥	५२
दग्धे मण्डपिका हैमी, सह मत्तैर्मतङ्गैः । दत्त्वा पादं गले येन, जाङ्गलेशादगृह्यत ॥	५३
जामदग्न्य इवोदामधाममस्तिताभास्कर । क्षत्राक्षशालितां धार्मी, श्रेयस्त्रिनाचकार यः ॥	५४
दानानि ददतो नित्यं, नित्यं दण्डयतो वृषान् । नित्यमुद्रहतो नारार्यैस्याऽऽसीत् त्रिगणः समः ॥	५५
धृतपार्थिवनेपथ्ये, निष्क्रान्तेऽत्र शतक्रतौ । जयन्तामिनयं चक्रे, मूलराजस्तदङ्गजः ॥	५६
चापलादिव बालेन, रिद्धता समराङ्गणे । तुरुष्काधिपतेर्न, विप्रकीर्णौ चरुधिनी ॥	५७
यच्छिन्नलेच्छकङ्कालरथलमुचैर्बिलोक्यन् । पितुः प्रालेयशैलस्य, न रमरन्ध्रुर्दुःखचलः ॥	५८
द्रुतसुमुन्मिन्ने तत्र, धात्रा कल्पद्रुमाद्भुजे । उन्नगामानुक्त्वाऽस्य, श्रीभीम इति भूपतिः ॥	५९
भीमसेनेन भीमोऽयं, भूपतिर्न कदाचन । वकापकारिणा तुभ्यो, राजहंसमदमक्षम ॥	६०
मन्त्रिभिर्माण्डलीकैश्च, बलवद्भिः जनैः जनैः । बालस्य भूमिपालस्य, तस्य राग्यं व्यमग्यत ॥	६१

वीरधवलवंशवर्णनम्

अथ तत्रैव चौलव्यवंशे ज्ञान्त्रान्तगोष्ठतः । अर्णोरानः स राजैर्षिस्तं मर्षे न विल्वम् ॥	६२
धवलस्य सुतेनापि, तेन कुष्माण्डकारिणा । राष्ट्रं निष्कण्डकीकर्तुर्मारुमे सुमतेन तत् ॥	६३
निष्करन्तीवहेतीनां दयानामिव सर्वतः । दुष्टानां व्यथितानिष्ठे, यत्कृपापयोधरः ॥	६४
विर्चिन्वता रुचिं हैमी, त्रिपदुद्रेगदायिना । व्यासं यस्य प्रतापेन, यगसा च जगन्त्रयम् ॥	६५
आ सम्भवादुद्गम्य, निर्व्यदस्य च सङ्घे । प्राणैरुवापनं चक्रे, निजगौर्यत्रयतथ य ॥	६६
तपुः प्रसरत्कीर्तिपताकानुश्रितान्धरः । श्रीलावण्यमसादौऽस्ति, प्रासादं शौर्यसम्पदः ॥	६७
आकाशमिव चन्द्रेण, पारिन्द्रेणैव काननम् । रम्यं तथाऽनतिक्रम्यं, कुलं येन बभूव तत् ॥	६८
जग्धे येनासिदण्डेन, गार्धं, नङ्गुलनायकः । निघोतेनैव तेनामौ, कम्पन्तेऽघापि भूयतः ॥	६९
न नीराक्षस्य सौराभ्ये, दोषाभ्ये कुर्वते कश्चित् । स्वयमेव पुनः कीर्तिं, हस्ति प्रतिभुभुजाग् ॥	७०
तेजस्तादिह दान्तारि, दशमन्तरु-लङ्कयोः । बभूव मुजयोर्यस्य, राम-रुत्तमजयोमिव ॥	७१
पुण्डरीकं धधकेकं, राजहंसाननेकराः । आङ्गारियसा फेना, प्रदेत्ये यस्य वाहिनी ॥	७२
समन्ततोऽपि सामन्तगोष्ठभैर्निपुनोक्तिभिः । नाऽऽसन्निवृत्तितानागस्य यस्य स्तन्यगतिततिः ॥	७३
पुरो मन्दारवद वीर्य यं निकम्पतया विधत्म् । विनिवृत्तमुपेयापि, धाराधीनपयोधिना ॥	७४
दक्षिणाः क्षीगिपालोऽपि, धनसैन्योऽप्यविक्रमः । येन तदिपरिनेत, पत्नियञ्जनि विभ्वत् ॥	७५

१ शोचियस्य इते धोचियशकरोति या० टि० ॥ २ षडुरायक या० टि० ॥ ३ वैष या० टि० ॥
 ४ 'लां विरू' या० वा० ॥ ५ 'विस्त्रं तामप्यंत विरू' सु० ॥ ६ पितृन्व' वा० ॥ ७ 'पमुदे' वा० ॥
 ८ नङ्गुल' वा० । नङ्गुल' सु० ॥ ९ 'स्त्वय सौ' सु० ॥ १० 'स्ये तस्य सु० ॥
 ११ २

श्रीवीरधवलस्तस्य, सूनुवैरिरोमणि । युद्धे जयश्रियं धन्वन्यारौवैराजुहाव ये ॥	७६
आत्मानमात्मजे तस्मिन्शेषुणमूपणम् । स पिता दर्पणप्राये, सङ्क्रान्तमिव पश्यति ॥	७७
श्राहुभ्यामिव विक्रान्तो, दन्ताभ्यामिव कुञ्जरः । अशुभ्यः पितृ पुत्रान्यां, बंशस्ताभ्यां बभूव सः ॥	७८
वृत्तविधमुदाङ्गेन, दानेन प्रतिगासरम् । सुतेन जनता तेन, तातेन च समुध्यते ॥	७९
अप्यरातिगराघातजातत्रणगतोन्गते । वीरलक्ष्मीश्वरं यत्सै, वस्तु वक्षसि वाञ्छति ॥	८०
वीर समरकासारं, शिरोमि सह वैरिणाम् । क्रीत्र पुण्डरीकाणि, कन्दयुक्तानि योऽग्रहीत् ॥	८१
अनातिराजन्यशरामिघौतै, प्रयातभूमौ पतितोत्थितो य ।	
गम्भीरवीरिन्द्रवलान्चुराशोर्लम्बैव गाध पुनरुन्ममज ॥	८२
अथैकदा कन्दलितप्रतापसन्तापितारोषनिपक्षपक्ष ।	
निशावसाने न निशातबुद्धि, प्राबुध्यत श्रीलक्षणप्रसादः ॥	८३
प्रबुद्धमानोऽपि कुमारपुत्रमाकारयामास वृषावतंस ।	
पुरोषे तत् किञ्च शत्रिदृष्ट, शिष्टाय तस्मै विनिवेदयिष्यन् ॥	८४
समेत्य सोमेश्वरदेवनाया, नैमत्य ते स्वस्ति निगद्य चार्यै ।	
प्रसन्नमूर्ते पुरत स तस्य, दृष्टादरो विष्टरमाससाद ॥	८५
पुरस्त्रतस्यास्य पुर पुरारिप्रसादलब्धे लक्षणप्रसादः ।	
वीरेण तेनानुगत सुतेन, ते स्वप्नमिथ कथयाम्बभूव ॥	८६
जानेऽयं विद्याधरमुन्दरीभिर्त्रैरीगहृद्दारविहारिणीभि ।	
शृङ्गारितं शृङ्गग्रह महद्वैरारुद्रवानुदृष्टपञ्चनस्य ॥	८७
वृत्तासन तन्मणिवेदिकाया, जायाद्वितामर्षतनुं दधानम् ।	
प्रसन्ननन्द्यास्त्रमह न्नितास्त्रैर्नगपति पूजयितुं प्रवृत्तः ॥	८८
निस्तुभ्य पूजामध गन्धशोरे, सैमाधिसुद्राविद्रुधामि यान् ॥	
ताम्बु पूरे फलमि वामने स, शकाभिवःऽऽकारकर्त्तमपश्यन् ॥	८९
शेताशुतुन्यं वदनं वहन्ती, शेताशुसा श्वेतविष्पना ताम् ।	
शेता धराप्रे दधती च मालामालोभ्य वाश्रीमतिविल्बिनोऽस्मि ॥	९०
कस्यासि / फाऽसि / त्वमिहासि कस्यादिनि भुवे यावदुपागता ताम् ।	
तावन् तथैवामिहितोऽस्मि वान्तदन्तपुता दक्षसितावप ॥	९१
हे वीर ! वैरिजिनीगजेन्द्रपाष्टस्थेऽंगरगटनखङ्गकाट ! ।	
प्रयथिमार्थेन वदथ्यमाना, जानीहि मा गुर्जररोज्यलक्ष्मीम् ॥	९२

१ सः पु० ॥ २ 'स्य वारं वसं' सु० ॥ ३ 'प्रपात' प्र० ॥ ४ 'लक्ष्यायता' प्र० । 'लक्ष्मि-
 गाधं' सु० ॥ ५ वा० आदौ 'पदयोददसं' इत्यादि नमस्यते इति एक पद दक्षिण्यसि ॥ ६ 'सुम्ब' प्र०
 टि० ॥ ७ 'इपर' वा० टि० ॥ ८ 'क' इत्यादि प्र० टि० ॥ ९ 'प्या' प्र० टि० ॥ १० 'पुनः' सु० ।
 ११ 'लामिति' वा० ॥ १२ 'लीमण्डनमण्डकण्ड' वा० सु० ॥ १३ 'राजल' सु० ॥

दिवं गतास्ते यत ! गूर्जरेंद्रास्ते कुञ्जरेंद्राश्च हेताः सपनैः ।	
येषां क्षमाभ्रदलनक्षमेषु, मुञ्जेषु दन्तेषु च मे निवासः ॥	९३
यो वर्तते सम्प्रति नान्वर्तिपदेऽथ गार्ह' स बलान्वरीणाम् ।	
क्षमः समप्राणि न निग्रहीतुं, दीपस्तमांसीव तदस्थितानि ॥	९४
ये मन्त्रिणो येऽत्र च मण्डलीकास्तेषु क्रमो नास्ति पराक्रमोऽस्ति ।	
प्रतिक्रिया काऽस्तु ततोऽस्ति येषां, कामो मयि स्वानिपरिग्रहेऽपि ॥	९५
आस्ते सहस्तः स पुमान् न कोऽपि, यो मामिमामुद्धरते निमग्नम् ।	
ग्रहीतुमेते हि सतां विभूतिं, शतं वितन्वन्ति नराः करारणाम् ॥	९६
सौवस्तिको नास्ति स आमशर्मा, वर्मापितं येन सुधर्मजा मे ।	
गतः स मुञ्जालमुतश्च मन्त्रैर्यैः क्षयसर्गमकरोद् विदर्पान् ॥	९७
न राष्ट्रकूटान्वयकैटभारिः, प्रतापमल्लोऽस्ति मृधैकमल्लः ।	
गन्धोऽपि गत्तारिगतहजानां, गन्धद्विपेनेव न येन सेहे ॥	९८
विना जगद्देवनिमामवस्थां, नीता निर्जैव परैरिवाहम् ।	
यत्र स्थिते वैत्रिणि दक्षिणैर्नै, द्विष्टैः प्रविष्टं पुरि गूर्जराणाम् ॥	९९
अवाप्तवेदाम्बुविरोधसा च, पुरोधसा तेन कुमारनाम्ना ।	
विनाऽयं चैद्यक्षितिपाललक्ष्मी, को मे करिष्यत्यरः सपनीम् ? ॥	१००
या भूलराजान्वयजत्राजतेजोभिरासीद् विरैमतमल्ला ।	
निशाम्ये साम्प्रतमुद्रसायां, तस्यां न दौषोऽपि नरेन्द्रपुर्याम् ॥	१०१
निरन्तरं सञ्चरतां गजानां, या शिण्डिमैरडमरा प्वनद्भिः ।	
एकाकिनी रात्रिषु गूर्जराणां, सा पृक्करोतीव शिवास्तै पूः ॥	१०२
क्रीडावतीनां नगराङ्गनानां, यत्रैः सदा यत्र सरोजसत्ता ।	
सरस्तदश्रुणि किरत्यनाथं, बातास्तपायःक्षणकैनेन ॥	१०३
मुण्डेव खण्डितनिरन्तरश्लेष्मण्डा, निचुण्डलेव दक्षितोन्वटवृचनप्रा ।	
दूरादपास्तविषया विषवेव दैन्यमभ्येनि गूर्जरधराधिपराजधानी ॥	१०४
तन्मां स्वचक्र-परचक्रनृतापरोगां, नि दीपिताखिलसपन ! समुद्धरन्व ।	
यस्माद्मानवचरिप्रपवित्रिनेन, सम्भावनाऽय भवता भुवनेऽर्जिताऽसौ ॥	१०५
एकेन केशरिपुणा विभूते यदुद्येर्भांरेण भङ्गुरमिषामुरमृपतीनाम् ।	
वेदीर ! वीरभ्रवलेन सुनेन भूय', सम्भूय भवत्यमुद्धर सम्प्रति त्वम् ॥	१०६

१ हताः प्र० वा० ॥ २ तु प्र० वा० ॥ ३ मुञ्जाल' मु० ॥ ४ सल्लट पा० टि० ॥ ५ 'छ
 पेष' क० ॥ ६ 'रत्त' मु० ॥ ७ सा फूक्' मु० ॥ ८ तस्याद् स्व' मु० ॥ ९ तदीर ! वा० ॥

व्याह्वय कृन्वमिनि सा सहसा च कण्ठपाठं निवेद्य विशदामिह पुष्पमालाम् ।
कुत्रापि तत्रैभनर्ता सह निद्रया मे, याताऽथ धूयमिह जन्पत नै किमेतत् ॥ १०७

इधं वदन्वय हरिप्रतिहस्तक्रोऽसौ, सौवस्तिकेन जगदे जगदेकजीर ।
त्वन्नोऽयमर्थमद्रेदर्शनया ददानो, व्याख्यानमिच्छति भवानिव नैव देव ! ॥ १०८

राज्य ! धन्यतममन्यमहं न मन्ये, प्रस्तौरिर्वारमुजवैभवतो भवत् ।
या न स्रग्भ्युपलनानपरात् कैदापि, सत् त्वामुपेन्द्रमिव सा वृष्टते त्वयं श्री ॥ १०९

युष्माद्यामसद्यान्वयसम्भवाना, न श्यप्यते जगति केन कुत्रागिऽसौ ।
अप्रेमसोमजलि दुधगिनप्रवृत्तौ, या सद्गन्व्यतिररापस्यौ नु पथात् ॥ ११०

उद्वृष्टतस्मिन्व श्रेयसि मःपराये, ज्ञेयेव सैम्मुक्त्वमुपति न श्युतेना ।
दीपाह्वरा इव दग्नात्सुसोपेयासस्तेजो निरे सुहृत्प्राप्ति च मण्डरीका ॥ १११

आनीतसानसि गुणैर्गुणैः स्वर्गैर्वैर्यैरभ्या वृषधियमिमा सुमदोपभोगेयाय ।
मन्मन्मिग्नतद्गुणैः मन्जुमूर्ते !, ध्यादन्ते नन् यथा स्वदेसौ शिथनाऽसौ ॥ ११२

त्य्यत्रुजा शिर्वमुज प्रियमर्जयति, नीया समुंनयति मन्मन् पुनस्ताम् ।
रत्नादनी जन्पयो जन्पयति किन्तु संस्कारमत्र मन्मन्वारमज करोति ॥ ११३

विम विचित्रचरितानुस्मिताऽप्युतेन, तेऽथ शीरपत्रयै बलशत निपुण ।
गुणम भूमरसमुदग्न शिःशः, बित्तः सकार सविदपु सुविःश्रेयेषु ॥ ११४

अथ इत्यथः परादानस्य प्रभाते, स च गुणनिर्गमं गण गनीपनेदम ।
स च परैर्यत्सो मुर्ततात् शिःशः शिःशः शिःशः शिःशः शिःशः शिःशः ॥ ११५

॥ इति गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचितं श्रीविष्णुमूर्तानाम्नि
महाकाव्ये नरेन्द्रचंद्रादर्शनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥



तृतीयः सर्गः ।

वस्तुपालवंशवर्णनम्

- रसालङ्करणे तस्मिन्नालवालानुकारिणि । प्रांशुः प्राग्वाटवंशोऽभूत्, पुरे गूर्जरभूभुजात् ॥ १
- त्वचि सागाः परे वंशाः, सदा पत्राणि विभ्रति । क्रियासारैश्च वशोऽयं, धत्ते पात्रपरम्पराम् ॥ २
- नररत्नैर्यदुत्पन्नैरुद्धूताद्भुतकैन्तिभिः । विम्पिता विरोधेन, जगतीव सरस्वती ॥ ३
- मन्त्रिमण्डलमार्तण्डश्रण्डपः प्रथमः पुमान् । कुले तस्मिन्नुदेति स्म, तैमसामवर्सानकृत् ॥ ४
- चोगक्यादिव चातुर्यं, गिरमाङ्गिरमादिव । भम्मोघेरिव गाम्भीर्यं, यः शुभैकाम्होऽग्रहीत् ॥ ५
- न च्छिद्रं क्षुद्रमप्यत्र, मन्त्रिरत्ने निब्रेणितम् । धात्र्य केनै प्रकाशेन, सोऽनुत्पूतगुणः कृतः ? ॥ ६
- मानी नामन्यत स्त्रध्यां, यः त्रियं सरसीरुहाम् । धैर्मनागपि न म्लानमिर्नपादावधीरितैः ॥ ७
- तद्व्यण्डमसाद्रीऽभूत्, गङ्गाडिण्डीरपाण्डुभिः । यगोभिः ककुमां येन, चक्रे श्रवण्डमण्डनम् ॥ ८
- कदाचिदपि न त्यक्तः, पाणिपद्मगृहीतया । गेहिन्येव वदान्योऽयं, नृपन्यापारसुदया ॥ ९
- पृदुर्वागी मतिस्तीक्ष्णा, साधुः श्रीः कीर्तिरिवरी । वीतरागं मनो यस्य, स्त्रीतरागं करदयम् ॥ १०
- यः परामृतकर्षरैः, कीर्तिपूरैर्नित्तरम् । चिं विरचयामास, राकामाकैलिर्कर्मिह ॥ ११
- सोमः समुद्रतस्तन्मादुज्जगाम मनोरमः । सवित्री जातमात्रेण, येन बौखि दिवुते ॥ १२
- अपूर्वः क्रोऽपि सोमोऽयं, फलद्विविक्लश्रुतिः । न हि मारुपुरकराहं, चक्रे भावं च नो भवे ॥ १३
- निदधे गुणालानां, यत्र कोदाः स्वयम्भुवा । तत्र श्रीसिद्धराजोऽपि, रत्नकोशे न्यवीविशत् ॥ १४
- स्यं मेने येन सोमेन, पूर्णेनाभ्यर्णवर्तिना । गृहीतानन्तमोगः, श्रीसिद्धेशोऽधिकर्माधरात् ॥ १५
- सौख्यं विभ्रता तेनः, सीतां च सहचारिणीम् । कादुत्थेनैव येनापि, न दीनातिक्रमः कृतः ॥ १६
- अमेयमहिमा श्रीमानधराजस्ततोऽभवत् । येन दानार्द्रहस्तेन, हस्तिराजोऽप्यजीयत ॥ १७
- तैर्मानिरन्तरस्यागस्थगिताभितदुःसिधैः । निजैरेन्द्रियैर्लब्धा, कामना न मनागपि ॥ १८
- आनतं न्यायतो वित्तं, व्ययितं धर्मरुममु । यगस्तु जगति स्तुत्यं, केवलं यस्य तिष्ठति ॥ १९
- प्राकृतं रेणुकावापां, स्मरन्ननुतायादिव । मानुर्विदोषनधके, मर्त्त यः पुरुषोत्तमः ॥ २०
- वक्तव्या जलेर मातान्नुत्ससत दक्षैः यः । हृदयाम्मोहहे तैरेव, यावज्जन्मियं पुनः ॥ २१

१ 'रस्यय' प्र० वा० ॥ २ इच्छा तत्रथ प्र० टि० ॥ ३ तमसां दुष्टानाम् प्र० टि० ॥ ४ अन्त प्र० टि० ॥ ५ चाणिक्यां वा० ॥ ६ 'ते न्यवेद्ययत् । धात्रा(ता) के' मु० ॥ ७ गवापि प्र० टि० ॥ ८ इत-वृषं, पाद-किरणाः, अशपीरित-अशगिनः, अनस्ताभोगारं प्र० टि० ॥ ९ अकालभयम् प्र० टि० ॥ १० मरणे कामध प्र० टि० ॥ ११ मरु-संघातः शिरथ प्र० टि० ॥ १२ धीसविद्धः सोऽधिकं वा० । धीसविद्धोऽधिकं मु० ॥ १३ सतिन्या इदं सतिविरुद्धम् प्र० टि० ॥ १४ परमां प्र० ॥ १५ निजैरिये' मु० ॥ १६ 'गत स्तु' प्र० ॥ १७ पञ्चमी प्र० टि० ॥ १८ यस्य प्र० ॥

- सतत सचिवश्रेणिमाण्डियस्याङ्गसङ्गिनी । काता कुमारदेवीति, तस्य कान्तिरिवामवत् ॥ २२
- स्वामाविकेन शौचेन, माया सुमनसावपि । प्रवाहा इव जाह्नव्यास्तया सूता सुताख्य ॥ २३
- मुख्य श्रीमल्लदेवात्मो, वस्तुपालाङ्गवस्तत । तेजःपालाम्बिध पश्चात्, त्रयी भाति त्रयीव सा ॥ २४
- पुरुषाणामिमास्तेषा, परेषामिध मूर्तय । त्रिधा निमित्तमाना अन्यैकैव परमार्यत ॥ २५
- स्वय शुद्धेषु यत् तेषु, गुरुणा शौचनिक्षणम् । घनसारपराम्ग, मार्जन मौक्तिकेषु तत् ॥ २६
- तैल्लम् मल्लदेवेन, यत्र शुभ्र विमान्य भूत् । शिष्टैर्न विष्टेषु दृष्ट, कैव्य कैव्यजया १ ॥ २७
- इवती मल्लदेवस्य, क्रौस्तुमेन विभिन्नता । जिनी हृदि यदेतस्य, जिनस्य त्वपर सदा ॥ २८
- बन्धुव वस्तुपालस्य, सैव वेति सख्यना । तदीयदनाम्भोज, या वसत्यनुवासरम् ॥ २९
- शिवत पुरुषयोर्मये, पूर्वजानुशयोस्तयो । मन्यते मन्थन य स्तुत्तम त जन पुन ॥ ३०
- क्रिमस्तु वस्तुपालस्य, मन्त्रीन्दो साम्यमिन्दुना १ । यद् दत्ते वसुधाम्भे, सुधामेवापर पुन ॥ ३१
- शुद्धि - यत्रो रशास्त्रात् स प्राप्नोति यथा यथा । क्षमालङ्करण केषा नाश्रय स्वान् तथा तथा १ ॥ ३२
- पद्भिरव गुणैर्न काऽपि कीर्तिपटी कृता । वसुधया धाऽम्भोधिःसहिता पिहिता यथा ॥ ३३
- मये मनसि साधूना, यो वसयनुवासरम् । यदनुकोऽपि जानाते, विधत्ते च तदीप्सितम् ॥ ३४
- अहङ्करोति नावान् त्वङ्करोति न सद्गुरुन् । य पुन प्रनात्मो हुङ्करोति विरोधिन ॥ ३५
- दयिता ललितादेवी, यस्य सवाङ्गहारिणी । अर्धाङ्गहारिणी पत्यु, पार्वती हर्मतीर या ॥ ३६
- तस्माद्भाव्यजीभूतान्, मुक्षेत्रेऽस्मिन् सुताङ्कुर ।
- जयसिंहाह्वय सोऽथ बालोऽपि फलित सनाम् ॥ ३७
- पूर्वं सर्वेऽपि तार्थ्यते, निस्तार्थ्यते तथाऽर्थिन । एतेन यस्य पोतेन, प्रतार्थ्यते न तु प्रजा ॥ ३८
- तेजःपालः पुनस्तेषु सोऽरेषु लघु फिल । निजप्रभुप्रमादेन, गुरुणाऽपि न लक्ष्यते ॥ ३९
- छन्द शाले श्रुताऽस्माभिर्लघुताऽपि क्वचिद् गुरो । तस्मिन् बन्धुजने दृष्टा गुरताऽस्य लघोरपि ॥ ४०
- अश्वराजानाश्वेतौ, नासत्यावपतौपथै । सम्प्रति प्रतिशुचौते, सर्वमप्यातुर गगत् ॥ ४१
- अमी सुमनसस्तेन, स्पर्धन्तामुद्वता कथम् १ । सोऽपि मदबुद्धिना येन, जित सुमनसा गुरु ॥ ४२
- अपूर्वं तस्य वैदुष्य, यद् दिक्पालै स्वभुञ्जता । समानैर्दशभि सार्धं, मन सन्ध्यक्षराणि यै ॥ ४३
- शुमस्त्वभावमालोके, लोकेऽस्मिन्नेकमेव तम् । यदुक्त तत् करोयेव, यत् वृत्त तत्र यति य ॥ ४४
- उपहृश्य वृत्ती पुसा विने तेषा न केऽलम् । अपि य स्तुतिऽप्याया, सचिन्वेन्दुर्गनष्टह ॥ ४५
- उपकर्ता सताम वैरफकारयिता च य । हस्ते हि मरुत् ताप, हारपमपि कारिदै ॥ ४६
- वायवेबोन्नति नीत, श्रिया वृणसम पुमान् । तस्मा त्वजनि न त्वेप गिरिवोदयकपि ॥ ४७
- अपूर्वं मन्त्रिमागिक्यं, शौणयमिह मह । वसुधाबलये येन सदान दौदय वृत् ॥ ४८
- यद्यप्यनुपमा जाम, प्रेयसी तस्य मन्त्रिण । मूया तथापि नयेऽहमेना मनाङ्गजामिव ॥ ४९
- लावण्यसिंहामान, मा लावण्यमनसिना । तनय जनवामास विनवावर्जिनप्रजम् ॥ ५०

१ शौर्येण, मा १ सु० ॥ २ यत् सु० ॥ ३ तत् सु० ॥ ४ यत् सु० ॥ ५ 'हृत्ते सु० ॥ ६ 'तचित्तो दुर्ग' सु० ॥ ७ 'वाणिक्य' मा० ॥ ८ 'निनम् सु० ॥

वस्तुपाल-तेजःपालयोः मन्त्रिसुद्रार्पणम्

भूमिभर्तुरथ कर्तुमिच्छतस्तस्य सत्पुरुषसङ्ग्रहे श्रिये ।	
एकदा हृदयमागताविमौ, दीप्तश्रीतकरणाजिवाम्बरम् ॥	५१
तदगुणान् निपुणया मनीषिणामप्रणीर्धिपणया विष्टस्य सः ।	
आजुहाव च समगतौ च तौ, कार्यसिद्धिरविलम्बिनी सताम् ॥	५२
तत्र तौ ददृशतुः शतक्रातुप्रायमापतभुज महीसुजम् ।	
सानुजं च सचिवं स दृष्टवानर्थजुष्टमिव धर्ममथतः ॥	५३
तायुपायनमुपायपण्डितौ, मण्डितौजसिकपद्धतेः पुरः ।	
उद्वेगपथं चरणद्वयं मुदा, तस्य वीरतरणेः प्रणेमतुः ॥	५४
तेन वेगतनयानुकारिणा, कर्तुमानकरणाधिकारिणौ ।	
सप्रसादवदनेन सादरं, सोदरी ससुपवेष्टिताविमौ ॥	५५
तस्म निर्दलितभूरिभूभृतः, स्वर्पतिप्रतिकृतेः कृतासनौ ।	
अश्वराजतनुजौ रराजतुस्तौ सुरा-ऽसुरगुरुपमौ पुरः ॥	५६
एतयोर्बिनयनप्रमस्तकन्यस्तसम्पुटितपाणिपद्मयोः ।	
निर्भेने समदशबुद्धन्तिनामङ्गलः स कुशलानुयोगनम् ॥	५७
नीलनीरदस्वानुवादिना, नादयन्त्र दिशः स्वरेण सः ।	
तौ पुनश्चरितचातकज्जतौ, वस्तुभारभत गारसन्निभः ॥	५८
आकृतिर्गुणसमृद्धिर्शसिनी, नम्रता कुलविशुद्धिसूचिका ।	
वाक्क्रमः कश्चितशास्त्रसङ्क्रमः, संयमश्च युवयोर्वयोऽधिकः ॥	५९
श्लाघ्यस्तां मुञ्चयुपैति पैतृकं, स्वाम्यनोरथतरुः फलेप्रद्विः ।	
उन्नमन्ति यशसा सह श्रिय, स्वामिनां च पुरुषैर्भवाद्दशैः ॥	६०
यौवनेऽपि मदनान्न विक्रिया, नो धनेऽपि विनयन्यतिःक्रमः ।	
दुर्जनेऽपि न मनागनार्जवं, केन धामिति नवाकृतिः कृता ? ॥	६१
आवयोस्तु भिन्न-पुत्रयोर्महानाहितः त्रितिभरः पुद्गुहा ।	
नद् युवां सचिवपुद्गवावेहं, योक्तुमत्र युगपत् ससुत्सहै ॥	६२
विशुदञ्चलचलाचलां श्रिये, सन्निवेश्य सचिवेषु साधुषु ।	
सम्प्रहारभरसम्भृतश्रमाः, शैरते मुखममी क्षमायुजः ॥	६३
येन केन च सुधर्मकर्मणा, भूतलेऽत्र लुलभा विभूतयः ।	
दुर्लभानि मुकृतानि तानि यैर्भ्यस्ते पुरुपरल्लसुत्तमम् ॥	६४
मद्विपतुर्भुञ्जपुगेन सयुगादाहतां जिनयुगाश्रिया श्रियम् ।	
अक्षैरक्षणविचञ्जगौ युवां, नित्यमेधयतमिन्द्रया श्रिया ॥	६५

इत्युदीर्घं मुजवीर्यशालिना, मुद्रिता दशनचन्द्रिकाऽमुना ।

वस्तुपालवदनारविन्दत, स्यन्दते स्म मधु वोगमय तत ॥

६६

देव ! सेनरुजन त गण्यते, पुण्यवस्तु गुणवसु चाप्रणी ।

य प्रसन्नवदनाम्बुजमना, स्वामिना मधुर्मेवमुच्यते ॥

६७

सप्रसादवदनस्य भूषतर्यत्र यत्र विलसति छय ।

तत्र तत्र शुचिता कुञ्जीनता, दम्भता सुभगता च गच्छति ॥

६८

जायते बलदृष्टदृष्टिभि, दास्त्रिणा सफलता जनै जनै ।

तुष्यता क्षितिभृता नु दृष्टिभिरतन्नादापि नृणा फलोदय ॥

६९

नास्ति तार्थनिह पार्थिवात् पर, यन्मुराम्बुजविलोकनादपि ।

नदयति द्रुतमपायपातरु, सम्पदेति च समाहिता सताम् ॥

७०

जीवनाय मनुजमनामिह, भ्राम्यतामथ ऋदापि म प्रमु ।

त्वाद्दशो भवनि भाग्ययोगिनो, वेति य रादसता यदन्तरम् ॥

७१

क्रितु विजपयिताऽस्मि क्रिञ्चन, स्वामिना तदवधार्यता हृदा ।

न्यायनिपुतरा गिर सता, श्रातुनायधिकृनिस्तनैव यत् ॥

७२

सा गता शुभगयी सुमरयी, देव ! सम्प्रति सुग कलि पुन ।

सेवकेषु न कृत कृतज्ञता, नापि भूपतिषु यत्र ह्यते ॥

७३

ते राजान स्वर्गताधकिरि यैवैरैर्विह्मोपतीना प्रवधा ।

तेऽपि प्रामास्तत्र समस्त्रिगो ये, धोकास्तेषा शोधयन्ति स्म शुद्धा ॥

७४

दृष्टिर्नैष्टा भूषताना तमोमित्ते लोनाधान् साम्प्रत कुर्वतेऽप्रे ।

यैर्नीयन्ते धर्मना तन यत्र, अद्यन्याद्यु न्याहुलास्तेऽपि तेऽपि ॥

७५

न सर्वथा कथन लोभार्थैर्त, करोति सप्रामनुवासर भिमो ।

तथापि कार्ये स तथा मनापिभि, परत्र वाधा न ययाऽत्र वाप्यता ॥

७६

पुरस्त्रय्य याय खलजनमनाद्य सहजानरीन् निर्जिय श्रीपतिचरितमाधिय च यदि ।

समुद्रर्तु धैत्रीमभिलपसि तन् सैर शिगसा, धृतो देवादेग ह्युत्तमपरया त्वरिति भवणे ॥

७७

सचिववचनमेतचेतसा सोसपेन भिनितरैतिल्लकोऽय कर्पयमाण्ये सम्यक् ।

अकृत कनरुद्राकान्तिकिन्नरुसात्र करसरसिजसुम भिऽयुम्भस्य तरय ॥

७८

अवनिपतिरनेन मूरिधाम्ना, सचिवसुगेन निराद् विराजमान ।

पतगपतिरिवारिनागनादा जनयनि पम्भसुगेन ससुग स ॥

७९

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते श्रीविंशोमुदीनाम्नि

महाकाव्ये मन्त्रप्रतिष्ठा नाम तृतीय सर्गः ॥



१ वाङ्मय वा० सु० ॥ २ ना फल्लना प्र० ॥ ३ 'रैतोरुमा' वा० सु० ॥ ४ 'जित वा० ॥ ५ धार्त्री समभिलपसि तच्छेय वा० ॥ ६ 'य कृत्स्नमा' सु० ॥ ७ मन्त्रिस्थापना नाम वा० । मन्त्रिस्थापनो नाम सु० ॥

चतुर्थः सर्गः ।

वस्तुपालस्य मन्त्रित्वावदाताः

- श्रीश्रीरस्य धरोद्धारसुरीयास्योपधारणम् । चक्रतुः सचिवावेतौ, पादौ सुरगिरिव ॥ १
- ताभ्यां कल्याणरूपेभ्यां मन्त्रिन्यामधिकारिकम् । नृपाखण्डहरान्यश्रीः, कुण्डलान्यामिव व्यैभक्त ॥ २
- न्यायं निवेशयन्नुच्यते, निव्याजिः स्वजनः सताम् । स्तम्भतीर्थं जगाम श्रीवस्तुपालो विलोकितुम् ॥ ३
- स्तम्भतीर्थं स्थितस्तीर्थप्रभाव इव मूर्तिमान् । केषां मुनोप नो दोषमाप्सितानि ददौ च यः ॥ ४
- तन्मयमिव सश्रीकं, समुद्रमवलोकयन् । ईर्ष्येयव पयोभङ्गैर्भूमङ्गं विदधेऽम्बुधिः ॥ ५
- कोऽन्यपूर्वः समुद्रोऽयमपापः पृथिवीतले । यस्मात् प्रसरति स्वादुरसप्रा सरस्वती ॥ ६
- प्रविवेश पुरे तत्र, स पथान्मन्त्रिसत्तमः । तस्याऽऽगमे तु पौराणां, प्रमोदः प्रथमं हृदि ॥ ७
- हृद् हृद् पटोत्तमस्तोरणं च गृहे गृहे । पुरुषे पुरुषे प्रीतिः, सम्प्राप्ते तत्र मन्त्रिणि ॥ ८
- धान्यैर्धन्यमिव क्षेत्रं, फलैरिव धनं वनम् । सरः पूर्णमिवागोमिस्तेनाऽम्बारु तत् पुरम् ॥ ९
- कूर्सैर्हैरिवाऽऽक्रम्य, मुक्तमन्यैर्नियोगिभिः । प्रीणात्येप पुं मन्त्री, नक्षत्रमिव चन्द्रमाः ॥ १०
- पुं रोमीरिव प्रस्तमपरैरधिकारिभिः । सैद्वै इव तन्त्रज्ञो, मन्त्री प्रतिकरोति यः ॥ ११
- केनाऽप्यन्येन या चक्रे, सतां पीडाऽधिकारिणाम् । वार्यते वस्तुपालेन, सा सम्प्रथ्यधिकारिणा ॥ १२
- प्रयावृत्तिः कृतस्येव, कलेरिव गलग्रहः । बलेः पुनरिवोत्थाने, स मेने मुननःशतैः ॥ १३
- निशामु नीचसम्भोगसम्भूतधनकामना । सत्यत्र मन्त्रिमाणिक्ये, गाणिक्येनापि तस्यजे ॥ १४
- सर्वत्रोच्छ्वसितं सद्भिः, खलानां म्लानमानसैः । निराकृतदुराचारं, व्यापारं तत्र तन्वति ॥ १५
- सांयात्रिकजनो येन, कुर्वाणो हरणं नृणाम् । निपिद्वस्तदभूदेप, धर्मोदाहरणं भुवि ॥ १६
- सृष्टाऽसृष्टनिवेशाय, विधायावधिषेदिकाम् । पुरंऽस्मिन् वारितस्तेन, तत्रविक्रयविप्लवः ॥ १७
- धात्रा स्थानेषु भग्नेषु, ताभ्यतानाश्रयः सताम् । सदर्शः सदगुणधायं, पटावाप्त इवामवत् ॥ १८
- स्वामिना सैप्रसादेन, पाणिर्यथेपि मुद्रितः । तथाऽप्युन्मुद्रितस्तस्य, वितविश्राणनक्षणे ॥ १९
- स्निग्धैः सम्भाषणैरेव, यस्य इविणवर्षिणः । अर्थिनामुपगाम्यन्ति, दौःस्थानिःशासवायवः ॥ २०
- स्थानभ्रष्टस्य यः साधोराधारः सारवत्तया । जटाजूटः मुनतःश्लोप्रवाहस्येव शम्भवः ॥ २१
- लोकैऽस्मिन्मन्वाने, जाने वैतामयमपताः । सरस्वयास्वदं सौमिधिव यं शिशियुर्गुणाः ॥ २२
- महतौ वर्त्तमानानां विनैनेपकरोति यः । स्वर्गतानां जर्त्सूर्तकीर्त्तनोद्भरणेन तु ॥ २३
- प्रासादास्तेन देवानामुद्धृताः कारिताश्च ये । नववनेव विख्यातमसङ्गेष्वपि तेष्वैभूत् ॥ २४

१ 'रूपिभ्यां' सु० ॥ २ व्यधात् सु० ॥ ३ 'जः सुमनः वा० । 'जः सुजनः प्र० ॥ ४ तद्
 वैद्य प्र० वा० ॥ ५ 'रिण' प्र० सु० ॥ ६ सत्प्रसा' सु० ॥ ७ 'तां विद्यमानां' सु० ॥ ८
 'स्तकी' वा० ॥ ९ 'ते' प्र० वा० ॥ १० 'येष्व' प्र० ॥

यन्मून यत्र यत्तदं, यस्तत्र तदचोक्तत् । उपतिष्ठत्तमाना हि, रिक्तपूरणहेतवे ॥	२५
अरूपयदैन्यानि, देवेभ्य काननानि य । हस्नेत्राग्निनापस्य, यत्र न स्मरति स्मर ॥	२६
रम्भासम्भावितैर्यस्य, धनैर्नृपनिपेवितै । मनोजमुमनोरगै, स्वर्गसौन्दर्यवाद्दे ॥	२७
सङ्गृह्णानि हारीन् मुक्क चित्रदिग्गण्डिभि । धर्मग्राहसधर्माणि, यस्थोवानानि रेजिरे ॥	२८
दर्शयन् मुमनोभाव, श्रीमत्तामतुल्यमयम् । काननाना स्वन्धूना, स्वन्धूनामिवाऽक्रोत् ॥	२९
सरासि राजहंसात्प्रीणालीनयमर्चोक्तत् । तेनैव तुन्यता वेया, स्यादस्तापनया तथा ॥	३०
भाददाना पय-पूर, य-कासारेषु कासरा । विराजन्तेतरा पारावारिष्विव पयोधरा ॥	३१
भकारयदय शार्पारपापीय नियास्त । सुधाया अपि माधुर्यं, अस्त्रैर्गन्तुहस्तितम् ॥	३२
ता प्रपा कारितास्तेन, यदीय पिबता पय । नृप्यन्थास्थानि पान्थाना, न रूप मयता द्य ॥	३३
भनार्णस्तरि ब्रह्मपुरी येनात्र निर्ममे । यस्या गार्थन्ति सम्पानि, नरा नार्थस्तु तेषम ॥	३४
सुष्ट वेपयता कुभै, कर्तिवृष्टै पटैरिव । वचाऽपि प्राहिता येन, विष्णु चेतान्तरनम् ॥	३५
येन पौषधशालास्ता, कारितास्तारितात्मना । मर्त्य श्वेताम्भैर्घांसा, विशुद्धि सुधया बहि ॥	३६
यस्य पौषधशालाम्, यतय सवत्सि ते । सदा येषामद्वारागामात्मगुणम्भवे बुत १ ॥	३७
ज्ञानाख्यं यस्य तच्चतुर्षांवादेवी ददे मुद्रा । जिय येनैव धर्मस्य, गतिं सूक्ष्मामपीधते ॥	३८
अय जगति मथ्यरथ, स्पष्ट सृष्टिवृता वृत् । धर्माचानन्तरेतस्य, स्थिता सर्वेऽपि तावति ॥	३९
नानर्च भक्तिमान् नेमी, नेमी शङ्कर केशरौ । जैनोऽपि य मवेदाना, दानाम् कुरते करे ॥	४०
लभते लोकत पापा, प्रापान्त्ये नियोगिन । अभिकारमधिकारममाल्य पाह्यसौ पुन ॥	४१

सिंहनराजस्य गूर्जरदेशोपरि अभियोगः

अथ गूर्जरराजराज-वक्रमी, रमणीया चरचतुषा निरक्षय ।

पृथना सुतमांवेदेश दूतामिन् नसद्ग्रहणाय दक्षिणेन्द्रः ॥	४२
श्रुतसिंहनभैरव्यसिंहनाद्यप्रसारा गूर्जरराजराजधानी ।	
हरिणाव हस्तिमुग्धवलोन, चञ्चितान्त नरणा मुद्गुधकार ॥	४३
गृहमारभते न कोऽपि कर्तुं, पुरत कोऽपि न सद्ग्रह कजानाम् ।	
स्थिरता वचनानि नैति चेत, परचनगमनद्वन्द्व्या प्रजानाम् ॥	४४
अवधीरित्थान्यसन्नयाना, धतुमान शक्यपु मानवानाम् ।	
विषदासुदये हि क्षुनिवारे, जगण चक्रसूदव देहमाजाम् ॥	४५
सनुपैति यथा यथा समीर, स्थिगजन्वकिना मद्रात् तदानीम् ।	
परत परतस्तथा तथाऽसौ, जनता ज्ञातमयोऽप्युथा प्रयानि ॥	४६
तद्वेय जवेन यादवेन्दोर्नैव्यामच्छदतुच्छरीरैर्वाग् ।	
भ्रुटीकृष्टिं चसार कोपादन्विक श्रीवृषणममादद्रेवः ॥	४७

१ 'दनेकानि सु० ॥ २ यद्यथा वा० ॥ ३ य यद्यम् ? प्र० ॥ अत्र कथाराशोपरि प्र० आद्ये
बुत इति शिष्यकी कृता वक्तव ॥ ४ लोभत वा० सु० ॥ ५ धीसिंहन' प्र० ॥ ६ 'राद् भू' प्र० ॥
७ 'रगर्भम् सु० ॥

उपकण्ठमकुण्ठविक्रमस्य, स्फुरदुत्सप्रसरो हरिष्मयी शक् ।	
शुशुभेऽस्य चुलुक्यभूपलक्या, भयकन्या निहितेव बाहुवल्ली ॥	४८
परिपन्थिवैरुथिनीं प्रभृतां, स नृपस्तुच्छपरिच्छपरिच्छदोऽप्यगच्छन् ।	
बलिनाऽप्यरिणा रमप्रवृत्तौ, सुभटानां हि पदानि सँस्सुखानि ॥	४९
बलवारिधिराजगाम शत्रोरुपतापीतटसुर्वरोधतापी ।	
रभसादग्निभाषति स्व वीरः, स महीतीरमर्दनबाहुशक्तिः ॥	५०
प्रचुरं तदरातिराजचक्रं, तदज्यं च बलं चुलुक्यमर्तुः ।	
विपृशन् बहुशोऽपि सन्दिहानो, न जनो निधिनुते रिथति गतिं वा ॥	५१
रिपुसैन्यनिवेशभूः प्रजानां, विदिताऽभूदनिवेदिताऽपि वृते ।	
गगनाद्गणगाहनोऽग्नौस्तग्बलितग्रामसमूहपूमकूटैः ॥	५२
भृगुकञ्चवर्हीमहीनसस्यां, चरतस्तानचिरेण वृष्णिवर्गान् ।	
न बहून्पि दुर्जयानज्यथः, समरेऽभ्यत वीरकेसरी सः ॥	५३
प्रसरत्यथ मत्सरप्रकृत्ये, द्रुतमेकेन रणोत्त्वंगं कृपाणम् ।	
अपरेण सुतं करेण वीरं, सहसा सयति यान्तमेप दधे ॥	५४

चतुर्णां मरुभूपानां लाट-गोद्रहद्वेषयोश्च गूर्नरजोर्षभियोगः

क्षितिपान्तरविग्रहप्रसक्तौ, पितृ-पुत्रावथ विग्रहीतुमेतौ ।

विदितावमरैश्चिराच्चतुर्भिर्मरुभूपैः सहसोपचक्रमाते ॥

उभयोरनयोश्चतुर्भिर्मिर्गिगृहीतिर्विहिताऽथ साऽपि पृष्ठे ।

इयत्तैव बुधैर्विभेवनीधं, सुभटत्वं पृथग्भूमिं यस्य यावत् ॥

अथ गोद्रह-लाटदेशनाथो, मरुनाथेर्निवृत्तं निबद्धसन्धी ।

विधुरे परिहृत्य तत्र मित्रद्वितयं तैककटकदुपेयतुस्तान् ॥

असतोर्बलं सयोः सतोर्वा, सप्रलं स्वं मनुते स्म नैव वीरः ।

जलधिर्दिगैरुपागतैः स्वानहिं भिघोद्वचनलैः क्षयी जयी वा ॥

पुरतो यदि सिद्धनस्य सैत्यं, यदि पृष्ठे मरुभूज्यथ तौ च ।

न बभूव नयोरचिन्त्यशक्तयोर्मुत्तरागस्य विपर्ययस्तथाऽपि ॥

पुरतः सरतो घट्टप्रवीराननुगच्छन् समरे करीर्य मत्तः ।

व्यथिनः प्रतिपार्थिवैः स पश्चात्, सपदि व्यावहृते नृप सक्रोपः ॥

जगति ज्वलिताग्निप्रदेशः, प्रचुरीभूतमल्लिच्छप्रचारः ।

स परस्परविग्रहो गृह्णामिव तेषामभवन्नेश्वराणाम् ॥

१ 'रा हिरण्यं' सु० ॥ २ 'क्षया, चल्यस्या वा० ॥ ३ 'विक्रं' प्र० वा० ॥ ४ 'सन्मुयां'
प्र० वा० ॥ ५ 'विघोघनीं' सु० ॥ ६ 'यत्कं' सु० ॥ ७ 'हि नद्योषजलैः' प्र० । भिय उदय इति
एषामानो द्वौ महानो ॥ ८ 'य सत्तम' । इयं वा० ॥

अवलोक्य चुलुभ्यपार्थिवो तौ, विपरितैर्बहुभिर्दृष्टैः परितौ ।	
खर-शीतकरातिवाञ्जुवाहेर्जनेयं मनुते स्म दुर्दिने तत् ॥	६२
बलितेऽपि चुलुभ्यपार्थिवेऽस्मिन्, न वृत्तं तैर्यदुभि पुर प्रयाणम् ।	
हरिणैरनुगम्यते न मार्गो, हरिणा तक्षणमाश्रितोऽपि ॥	६३
हरित परिहृत्य चन्दनाद्रेरथ गम्तुं हिमभूश्चन प्रवृत्त ।	
अभवल्लवणमसादशरं, प्रसरत्तीव्रतरप्रतापरोऽ ॥	६४
सहजा इति येषु बन्धुबुद्धि, प्रयमाऽभूद्दश तान् विकारकर्तृन् ।	
पडपि द्विपतो विग्रह्य जेतुं, दृषवीर स पुरेश्वकार योगम् ॥	६५
वस्तुपालस्य भेदनार्थं शङ्कराजेन दूतस्य प्रेषणम्	
प्रसूनेऽथ मेहाक्षितां निरोधे, क्षयतिन्धाविव सिन्धुराजस्रुः ।	
प्रगिधि प्रशिषाय मन्त्रिणेऽस्मै, तृणरत्न विश्रमपि स्मयेन पश्यन् ॥	६६
चुलुकोद्भवभूषतेरमार्यं, भयकालेऽपि निरावृत्त तमेत्य ।	
प्रगिधि. प्रगिषय च प्रवीणो, धिनैश्चञ्जलमदामुवाच वाचन् ॥	६७
सुमटैरपरैर्विसुकमल, समरोर्वापु य एव एव धत्ते ।	
अथवा भुवने निगध्रयाणां, शरणं किन्तु तथाविधैर्दिनाऽस्तु ! ॥	६८
दलितेऽपि दले स्थित समित्या, यदुभिवो बहुभिर्दृष्ट कथञ्चित् ।	
दृढयेषु गुणाजितेषु तेषामपरेषामपि विश्रम जगाम ॥	६९
विभूतेऽपि सुतेऽत्र तप्तगिरी, न सपराकृतमानसा तथाऽभूत् ।	
समरे हि भयङ्करेऽपि व्याप्त, समसत्त्वेन न येन लज्जिताऽमौ ॥	७०
अवलोकितमात्र एव गुणैर्बहुसिद्धेन विमोच्य सिद्धमेन ।	
निदधे भुजपञ्जरे स्वय य, क लम्बने गुणिनो हि न प्रतिष्ठाम् १ ॥	७१
विभूतेऽपि न मुञ्चते निर्ज य, कुलधर्मं च कुलान्वयप्रदीप ।	
स यदाह मदाननेन शङ्कः, शृणु तन्मन्त्रिनिरोमणे ! स्वपश्य ॥ कुलकम् ॥	७२
विपनेऽपि कथ स श्रयमार्गं, स्तब्धु श्रोत्रवणमसादपुनः ? ।	
प्रददानि पदे पदे प्रबुद्ध, सचिवो यस्य भवान् कराण्यम् ॥	७३
निपुणेऽपि गुणेषु पदसु जाने, पुनोपा तव धीरता कुतस्तया ? ।	
व्यसने समुपस्थितेऽपि भर्तृर्बद्धगङ्गा, वृग्पेऽधिकारमेवम् ॥	७४
असि ! केति भवानपीत्रं यन्, विगुमुक्तिर्मम पचानं यदेतत् ।	
स्वधनग्रहणार्थमागतोऽहं, समयजोऽसि तदर्थ्यतामिदं मे ॥	७५

१ पुनश्च सु० ॥ २ मदीच्छतां सु० ॥ ३ 'दच्छिन्न' वा० ॥ ४ 'नेष्यन्' वा० ॥ ५ 'देषि
 म' वा० सु० ॥ ६ 'पि दक्त' वा० । 'पि दन्तु' सु० ॥ ७ 'मिहने' वा० ॥ ८ 'तिष्ठा' वा० ॥
 ९ 'स सत्य' सु० ॥ १० 'इ' पुरुषाधिकारमेकः सु० ॥ ११ अपि सु० ॥

यदि सम्प्रतिपत्तिरस्ति चित्ते, नगरस्यास्य निगोगवासना च ।	
प्रणम द्रुतमेव तत् प्रसन्ने, भयि दूरे न तवाधिकारमुद्रा ॥	७६
अपरोऽपि विघास्यतेऽधिकारी, नगरे कश्चन पैतृके मयाऽस्मिन् ।	
भजसे यदि मां ततः स्थिरैव, त्वयि मुदाऽस्तु गुणा प्रियाः प्रभूगाम् ॥	७७
अथ चेत्तसि किञ्चिदन्यथा ते, स्थितमास्ते तदपि प्रियङ्करं नः ।	
यदसाव्यविरोधिसौमनाय, प्रतिभैरेव ममास्ति सहृदण्डः ॥	७८
अबलेपमलीकनाश्रितो यः, प्रभुमेत्पार्थिनमन्यथा करोति ।	
कुपितेन स तेन दण्डयमानः, सह क्वचिन् ददाति वितनातम् ॥	७९

सिन्धुराजदूतं भति यस्तुपालस्य प्रतिवचः

अथ स व्ययितोऽपि तद्वचोभिर्न विकारं प्रकटीचकार मन्त्री ।

मलिनत्वमुपैति वाततुर्नैर्न रजोगिः सुरवाहिर्नप्रवाहः ॥	८०
जगदे जगदेकबन्धुनैव, सचिवेनोऽपसरदचाः स चार ।	
भवताऽभिहितं यद्वामभर्तुश्चरितं तत्र चमत्करोति कस्य ? ॥	८१
तरणेरिव सिन्धुराजसूनुर्महसा दुःप्रसहेन शुक्लदेहेषु ।	
दहति स्म सुखेन लक्ष्मदेवद्रुमसुरैरपि यादवेन्द्रदावः ॥	८२
सापरैकरतेरसुष्य सचवस्तुतिक्रोलाहलकाहलानिनादै ।	
श्रुतिमार्गमुपैति मर्त्यलोके, सुभटानामभिर्घोऽपि नापरेषाम् ॥	८३
विपरीतमतिःत्वमस्य मन्ये, यदसावर्षयते पुरं तैदेतत् ।	
हयसैन्यसहायतोऽपि सिर्हानृपसिंहेन विगृह्य यद् गृहीतम् ॥	८४
बहुभिः सह योजुमक्षमं मे, मनुने स्वामिन्नेप तन्मृषैव ।	
ननु निश्चलनिश्चयस्य पुंसिखिदग्ना यान्ति सहायतां क्रियासु ॥	८५
वरुपाटकनेष्ठितं न दधे, न च सिद्धेश्वरसन्निधानमुद्धम् ।	
किमनेन मगरिथेनो यदस्य, क्षितिमाकाङ्क्षति लीलैव लब्धुम् ६ ॥	८६
तनयः पितृवित्तमर्हतीति, व्ययहारः पुरुषान्तरेषु सुक्तः ।	
परसम्पदपेक्षिणां नृपाणां, स कृपाणे न हत पुन प्रमागम् ॥	८७
न्दुपेहि पतिं स्वमेवमस्मन्नचसा द्रुहि च देव ! वेत्सि सर्वम् ।	
अबलेपमिमं विमुञ्च नो चेदयमस्मि त्वैमतो विचार्य कुर्या ॥	८८

१ 'शेषसा' वा० सु० ॥ २ 'भूरस्ति ममैव स्व' सु० ॥ ३ 'मय्यर्थि' सु० ॥ ४ 'नापि सर' सु० ॥ ५ 'द्विदः वा० ॥ ६ 'घाथिनां पदे' सु० ॥ ७ 'यदैत' वा० ॥ ८ 'सिंहनादान्' वा० ॥ ९ 'नु निश्चयनिश्चलस्य वा० सु० ॥ १० 'स्विना यदोशक्षिति' प्र० ॥ ११ 'वममुं वि' सु० ॥ १२ 'त्वमितो सु० ॥

श्रुत्वा यचः सचिवनक्रदतक्रतोस्तद्, भूयोऽव्यभापत रुपा परुषाक्षरं सः ।
माः ! किं ब्रवीषि मदमन्दमतिस्त्वमेवं ? देवस्य तस्य नियतं नहि वेदिनाऽस्ति ॥ ८९

कुर्वांगस्त्वयि शस्त्रधारणमसावस्मत्पतिर्लज्जते,

येनैकेन रणाङ्गणेऽवगणितः सेनापनः सिद्धनः ।

तत् ते चेतसि चेद् विचारकगिका काऽप्यस्ति तन्मुच्यतां,

मानोऽथ नष्टवेदिनाऽथ भवता वैर्मेदमामुच्यताम् ॥ ९०

अथ सचिवमवश्यमाहवाय, प्रवगमति मतिमानयं विदित्वा ।

पवन इव वनोन्मुखं कृगानुं, विमुपमिभेगनवाऽऽमभ्यगच्छत् ॥ ९१

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवचिरचिते कीर्तिकौमुदी-
नाम्नि महाकाव्ये दूतसमागमनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



सिन्धुराजेन साकं गूर्जरेश्वरस्य संग्रामः

कथितारिखिचारेण, चारेण प्रेरितस्ततः । सिन्धुराजात्मजः सिन्धुर्वायुनेवोदजृम्भत ॥	१
कुपितः करवालेन, सिन्धुराजाङ्गभूर्भवौ । कल्पान्तविच्छृतः शम्भुः, कृतान्तेनेव सङ्गतः ॥	२
चक्रुर्दोषटना भाले, तस्य भाति स्म मीणा । त्र्यक्षत्रभुर्यया जिग्ये, युगान्तोद्धान्तपावकम् ॥	३
रषा स्मितमुखः शङ्खः, शङ्खपाणिसमच्छविः । नामवद् भीतये कस्य सितविद्युदिवाम्बुदः ? ॥	४
स प्रतस्ये ह्योदस्तैः परानपटलैर्धनैः । प्रावृषं राजहंसानामकाले कल्पयन्निव ॥	५
केकिपैत्रमयच्छत्रच्छन्ना तस्य पताकिनी । जङ्गनोधानलेखेव, दोःस्थिताया जयश्रियः ॥	६
शटित्यागत्य साटोपो, वृष्टकूपसरस्तटे । व्याचष्ट पटहोदघोषैर्द्विषामेव स्वमागतम् ॥	७
निस्वाननिस्वनानस्य, स्वकर्गभ्यर्णमागतान् । उदस्तचक्रुटीभङ्ग्या, मन्त्री प्रत्युदगादिव ॥	८
मन्त्री यद्यपि गाम्भीर्याद्, भावं नाऽऽविश्वकार तम् । तथाप्येष कृतोत्थानैर्व्यक्तीभूतः निरोल्लहैः ॥	९
सन्नद्धसैनिकः शङ्खो, भिन्नशङ्ख इव द्विपः । सङ्गरावेशदुर्वारः, सञ्चचार जनैः शनैः ॥	१०
[आविष्ट इव राधेयवधोश्रेण किरीटिना । स तदा सच्चिवश्चापमामरमर्शं मुहुर्मुहुः ॥]	
स चौलुक्यनृपामात्यः, सञ्चरत्यरिसञ्चये । सैन्यमारचयामास, शससुक्तेन चेतसा ॥	११
चन्दना-ऽगुरु-कर्पूर-कस्तूरीकुमुमलज्जः । स्वःखीसम्भोगमिच्छद्विरिव धोरैर्विदग्धिरैः ॥	१२
सनाहः सङ्गरारम्भसम्भवासत्त्वसम्पदः । उच्छ्वसत्स्थामामात्यस्य, न मात्यस्य तनौ तदा ॥	१३
दक्षिणेनाहिणा क्षोणिक्षोदनाज्ययशसिन्म । आरुरोह जवादञ्चमध्वराणाङ्गसम्भवः ॥	१४
श्रीवीरनृपमुद्रां यः, सदा धारयते करे । वीरशूद्रकमुद्राऽपि, धृता तेन तदा हृदि ॥	१५
मटा भुवनपालाद्या, यद्यप्ये तद्राऽभवन् । तथापि स पुरस्तेषां पौरैः शरतया मतः ॥	१६
अग्रे शङ्खचमूचकं, मध्ये प्रहरणाङ्गणम् । पारेरत्नाकरं चमिगिरोरानसौ स्थितः ॥	१७
समासन्नैऽपि सङ्ग्रामे, शौर्योद्देवं न भाषितैः । स चक्रे सचिवोत्तंसः, क्रियासाराहि तादृशाः ॥	१८
स्थितं सङ्ख्यमुले शङ्खस्तं वीर्य विकसन्मुखम् । पाणौ रणरसोत्तालः, करवालमलालयत् ॥	१९
स्थितेऽज सम्मुखे शङ्खः, प्रवेष्टुं नाशकत् पुरीम् । रोहिणीं रोयरोऽपि, यथा दम्बस्ये शनिः ॥	२०
चलन्निवलोत्क्षिप्तः, क्षीणित्रेणुगणोऽनणुः । उद्वेद्यतः प्रतापान्नेर्धूमराशिरिवोत्थितः ॥	२१
धूलिव्यानोदये तस्मिन्, मुखोद्घोतेन मन्त्रिणः । प्रतापः प्रकटीचक्रे, श्रीवीरपद्मप्रभोः ॥	२२
प्रभूतमपि तत् सैन्यं, क्षोभायान्त्र मन्त्रिणः । तेऽप्येऽपि बहवो येषां, रणारम्भे स्थितं मनः ॥	२३
स्थितेन तेन धोरणं, कर्तुमर्हतमात्मनः । गोष्ठीसमः समित्वां स, स्याद्वादा सचिवो यदि ॥	२४

१ केतुप' मु० ॥ २ उद्वेद्यु' मु० ॥ ३ पयमिदमधिक वक्तव्ये प्र० आदये ॥ ४ 'त्या अयो' मु० ॥
 ५ क्षोणीश्लो' प्र० ॥ ६ 'पि, व्यथादशरयो मु० ॥ ७ क्षोणीरेणुगणो ननु मु० ॥ ८ 'त्यां यः,
 स्या' मु० ॥

वाहिन्योस्तत्र सम्भेदे, स कोऽपि त्सुलोऽभवत् । यस्यपि मद्रतामेति, सामुद्रोऽपि महाश्वनि ॥	२५
अवाशितानि चापानि, भ्रुवोर्युग्ममुद्विजितम् । मुमटै कोपसाटोपै, सेनयोर्मयोगपि ॥	२६
क्राण्डाना सह क्रोण्डशुणै सधिर्जायत । तथा चोत्प्रक्राण्डाना, विप्रहस्तु परस्परम् ॥	२७
कर्णे लाट्टिग्न्येपामयेषा जीमितन्ययत् । तुर्वाणैर्विदने वाणै, स्पष्ट दुर्जनचेष्टितम् ॥	२८
तत्राऽऽह्वमहातार्थे त्रिगिर्वैर्युष्मनिर्गते । भिन्वा विहर्तन चक्रे, परस्मिन् पुरप ह्य ॥	२९
विहाय शरधि वेगावापमापु गिन्वागुला । चिद्रमेतत् सपञ्चागा, त्रिभुरं यत् पुर स्थिति ॥	३०
वक्षो शिक्षिय वैपन, परिग पातो गता । न चिर् निर्गुणैर्लभ्या, धीगगा ह्यवस्थिति ॥	३१
स्वद्विग्न खड्गिभि वृत्तपागय वृत्तपागिभि । बोधा योर्पैर्ह्यारूढा, हवाक्यैश्च सङ्गता ॥	३२
मन्त्रीशस्त्रससगान्निव दानार्थनुयत । अस्ति सद्यपान् कोण, वद्वमुष्ट्रपि क्षणात् ॥	३३
वासाण पाणि पादाञ्चै, पूजितेवाऽऽह्वनिभि । दत्तार्थेव च दत्तांभक्तेरामिधै णि फलै ॥	३४
अहिंसावतमङ्गेन, का स्यात् नस्यात्र वाच्यता । पुरुषव्रतनिवाहो, येन तादृक् वृत्तस्तदा ॥	३५
अहिंसामङ्गसम्भूता, मन्त्री मायुं नन खिद्रम् । चक्रे दिव्यमिव स्नान, स शूर शरवृष्टिभि ॥	३६
प्रसुप्तोसाहन धृष्टे, मागजोत्तेजन पुर । विक्ताताना विष्णवग, जात विक्रमवृद्धये ॥	३७
उदिरथापि द्विषा मुकैर्न मन्त्रा विमिदे गैरे । अट्ट कोऽपि शिष्टाना, वद्वरुक्तो हि रक्षणे ॥	३८
मुमदाद्युक्तसरित्वर, पुस्ताद् दुस्तरो यदि । तथापि न निष्प्राण, मन्त्री शत्रुनिभि व्रन् ॥	३९
विभाव्य तमस-नाश्रमगष्टभे रणे रिपो । स्वचमूचरंसंहारमारण्य च परै पुर ॥	४०
वीर सङ्ग्रामसिंहोऽथ सङ्घये शङ्कापराद्धय । आविभाविनशत्रुयैर्निजसस्यसोरमम् ॥	४१
	सुनम् ॥
अपि श्रूयतोऽह्वात, परैर्यस्य सुदु सह । तस्य सङ्ग्रामसिंहस्य, खड्गोऽह्वात सङ्गे क १ ॥	४२
तमै तक्रमिवाऽऽयामतमनेभिनशीति । गटो भ्रुवनपालाण्य, शङ्के प्रयभिजग्मिवान् ॥	४३
सखा शङ्खस्य सामन्तः, सना सीमतथजर । वनाद् शुभ्रकुण्डोत्तममन्ययुङ्क्त तमतग ॥	४४
शासै शत्रेषु मनुषु तथोप्रतिमङ्गयो । मङ्गयोरिव सज्जने कणाकेशि भुजासुजि ॥	४५
नियति प्रेमभाषागिरस्सरोभिर्भूषं तयो । वटु मन इवक्रायाना च्चभुषामनिर्मपता ॥	४६
सामन्तमतनस्यात, स नत्वा सचर पुन । सम सङ्ग्रामसिंहेन, सङ्ग्राम कर्तुमन्ययात् ॥	४७
शङ्गेन खड्गानैस्त्रै, खण्डे खण्ड हत वतु । सङ्घये भ्रुवनपालान्य, पौरुष न तु स्वणितम् ॥	४८
स वीरो मन्त्रिर्द्वैतस्य, शङ्कासि यस्तनस्तरु । तस्य प्रसुप्तसादस्य, प्राणैरैश्वर्यवगोऽभवत् ॥	४९
श्रुत्वा भ्रुवनपालस्य, निरन मृत्रमूर्धनि । म त्री तैवैव वैरग, गणाय प्रवगोऽभिरुम् ॥	५०
त्रिय विक्रामता नेतुमसुभि सुखम यग । धृतासि याविगद वीरो वीरमः समसपगम् ॥	५१
शङ्कपतिर्जयन्तश्च, मन्त्रिपतिश्च वीरमः । उभो म्मुसुमा यातो, सवित्रादौ जयप्रिये ॥	५२
वैरिग्रामपि वीरग, रगास्तर्ष्ययिता मना । वाचि चाचिगट्टेवेन, स्वयानुभुनिगहिता ॥	५३

१ 'सुमलो' प्र० वा० ॥ २ 'हृदयस्थिति' प्र० ॥ ३ 'रसहर' वा० ॥ ४ 'मङ्गनिधयाया' सु० ॥
५ 'क्षपाते' सु० ॥ ६ 'रुद्राय' प्र० वा० ॥ ७ 'शम्भू' समा पा० सु० ॥

स्थित्वा विपद्यमानेन, भग्नेऽपि स्वचमूले । पदे पदे कृत. स्तोमः, सोमसिंहेन सहारे ॥	५४
स्वामिशत्रुमहत्वाऽपि, मृतोऽस्मीति द्विया किल । विजयेन तथा यानं, नेहाऽऽयातं यथा पुनः ॥	५५
वमातलक्षेपबुद्धयेव, शङ्गेन दृढमाहनं । भयो भुवनसिंहस्तु, सपदि त्रिदिवं गतः ॥	५६
प्राणैरन्योऽपि प्रियं शङ्गे, क्षत्राणामिति निधयः । तथाऽभ्युदयसिंहेन, न्यकास्ते नोक्षितं तु तत् ॥	५७
स्वल्ङ्गस्वर्णदत्तैर्वीरशिरोभिर्विपसीकृते । पते विक्रमसिंहेन, क्रोधान्वेन मृधाश्वनि ॥	५८
विन्धेमः कुलसिंहेन.....दर्शनात् । वक्रा च विस्फुरत्कुन्ते, युद्धे वै कुण्ठबुद्धिना ॥	५९
भित्वा भङ्गीभिरङ्गेभ्यो, निर्गताननपट्टिकभिः । उदलैर्न शुशुभे तत्र, सोऽयं द्रुम इवोदलः ॥	६०
पर्यतः संचिवं धीमं, तथैव स्थितमप्रतः । शङ्कस्यापि चमन्कारः, प्रससार तदा हृदि ॥	६१
विकारवर्जितं वीर्य, साक्षात् तं पुरुषं परम् । प्रबुद्धमिव शङ्गेन, विरमत्क्रोपसम्पदा ॥	६२

चौलुक्यचन्द्रसचिवेन्द्रमवार्यशक्ति, मन्वा स्थित स्थगयताऽथ रजोमिराजाः ।

आकम्पितप्रचुरपत्रवृषाङ्गिणः, शङ्गेन यातमपसृत्य महावलेन ॥ ६३

मन्वीश्वरोऽयमनुभूतमटोपमर्दं, सौवर्णीपिण्ड इव सोढुतागतापः ।

आनन्दकन्दलितवाग्पविलोचनेन, लोकेन पूजितमतीव वभाज तेजः ॥ ६४

सङ्ग्रामसिंहं स महानियोगी, योगी यथा योगवन्देन कालम् ।

संहर्तुमायान्तमतीव चने, कुगाप्रबुद्धिः कुगले पुरस्य ॥ ६५

संवीर्य वीररमरोपितरोमराजिराजिर्जिति क्षुण्भटानिर्षासिंघद्वेषाम् ।

मन्वी न्ययन्त ततः, प्रेमदाश्रुपतैः, मूर्तेः पुनः प्रतिपदोदितोर्विभूतिः ॥ ६६

सन्धाय बन्धुनतामनितोपगोर्धेद, दूरे विरुद्धद्वयोऽपि समं रूपतैः ।

पुत्रेण तेन सह दुःसहपौरुषेभ्यो, सोऽपाऽऽसमाद नरगी स्ववणमसादः ॥ ६७

प्रतिवृषनिभिर्भ्रोःसाहेनिमममिव कचिन् ।

स च नरपनिर्वीरस्तीरं जगाम मृधाश्वुवेः ।

द्विधि द्विधि यथाःस्तोमान् सोमाम्बयी समचारय-

सैतुरकुर्लीचोर्गैतयोऽयं त्रियङ्गुणैर्गुणैः ॥ ६८

॥ इति गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि
महाकाव्ये युद्धवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥



१ विमम्यः सु० ॥ २ प्र० आदत्तं पयस्यास्य स्वात रिक्त वर्तते ॥ ३ 'रङ्गिण्यो वा० सु० ॥
४ 'नू स्तो शुभे वा० ॥ ५ तथेशोऽयं वा० सु० ॥ ६ 'यं होरे वा० सु० ॥ ७ यानम्' वा० सु० ॥
८ 'वमद्विप्रभा वा० । 'वमायैशुप्याम् सु० ॥ ९ प्रमदोपयुनेः वा० । प्रमदोपयुनेः सु० ॥ १०
'पाद', वीरविक' सु० ॥ ११ 'न स्वार्था स' वा० सु० ॥ १२ घतुरकुर्ली' सु० ॥ १३ 'कयो-
स्तो मि' प्र० ॥
की० ४

पद्यः सर्गः ।

श्रीवस्तुपालेन बलान्निरस्ता, ता दुस्तरामापदमाकठ्यम् ।	
महोसवानामकृत प्रवृत्ति, वीनोपसर्गं पुरवासिबर्गं ॥	१
गृहे गृहे धातुरसानुलेपा, समन्तत स्वस्तिरुपडूक्तिमत ।	
विरेजिरे तूर्यरवानुकूला, युलङ्गनामङ्गल्यीतयध ॥	२
बभूव देवेषु विशेषपूजा, राजयमार्गेषु विशेषशोभा ।	
विशेषहर्षं पुरपूरुपेषु, त्रिशेषवेषध वधूजनेषु ॥	३
येषा निमेषार्द्धमपि क्षपायामायान्न निद्रा रिपुविद्रवेषेण ।	
मुस्थाकृताना सचिवोत्तमेन, तेषा च हर्षातरितेयमासीन् ॥	४
पुरप्रजाना प्रमदाभूतेन, तनातिमात्र दिशिराकृतानाम् ।	
नि शेषिताशेषसर समृद्धिर्ग्रीष्मो न भीष्मोऽप्यभवद् भयाय ॥	५
गिरीषुपुष्पप्रचयच्छलेन, शुचिर्दधानो हृदय प्रदीप ।	
आपाडवान् वाडमपास्तराम, कर्मादिकुपस्तमुपाजगाम ॥	६
आमायमालोक्य चुल्लुभ्यभर्तुः, कर्तुं स्थित शस्त्रमृतो निरखान् ।	
मये मनोभूरपि मदमद, चापक्रियाचापलमाचचार ॥	७
दिङ्मण्डली पाटलिपुष्पगधसन्धधसो मेपमरुमिपेण ।	
गान्तोपतापा सचिवेन तन, सतोपत ध्वासमिव व्यमुञ्चत् ॥	८
अस्मान् मुखनोत्तरतु भ्रमता, कीर्तिस्तदायेनि कृगास्तटिन्य ।	
बभूवुरासामसदेतदत्त, सा हि क्षमा सागल्लक्ष्मणऽपि ॥	९
प्रतापिन पञ्चवितप्रताप, शुचि शुचिचाधिगतप्रसिद्धे ।	
कविप्रियोऽसौ प्रथयाञ्जकार, निदा निदापस्य जैडप्रियस्य ॥	१०
पीयूषविन्दुप्रसव खवती गुणात्रलिर्यस्य गलतिकेव ।	
स्थितोपरिष्ठादपि विष्टपस्य प्रीति प्रतप्तस्य तदा ददाति ॥	११
ऋतुर्दिगात्ताक्रमणोद्यतस्य नयन्नय बुद्धिमिनस्य तेज ।	
तेनाभविष्यत् सचिवेन तुय, प्रजोपताप यदि नाकम्बित् ॥	१२
सशोपिनाशपनदे निदाघे, मन्त्रागदष्टि क्रमशभिरामा ।	
तृष्णापहार न चकार कस्य, प्रवेव समार्गमुपागनस्य ॥	१३
पुण्ड्रेभ्य क्षीणगसा सरस्य शुभा निगुच्छाश्च गवा समूहा ।	
चूत्सुमा वा सचिवोत्तमो वा, तदाऽर्थिसार्थं सफलीचकार ॥	१४

स्वरक्षितस्याथ पुरस्य तस्य, वैशेषिकीं वीक्षितुमेव शोभाम् ।	
इष्टां नमस्कर्तुमनाश्च देवीं, श्रीवस्तुपालः सचिवश्चचाल ॥	१५
प्रसर्पतः प्रोपितगर्वभावात्, परिच्छदो यद्यपि तस्य तुच्छः ।	
श्रीभिः कृताः प्रेक्षणकाङ्क्षिर्ज्ञानमित्तो सङ्घटा राजपथास्तथापि ॥	१६
तं राजचीयामथ सञ्चरन्तमालोकयन्त्यः पुरलोककान्ताः ।	
दातेति पातेति जैयीचयीति, क्षमीति वामीति शृशं शशंसुः ॥	१७
मनोरमाकारममात्यमेतमिचोपगन्तुं हृदयानि तासाम् ।	
चन्दुः पुस्ताटुपढौकनाय, फल्द्वयं चारुकुचद्वयेन ॥	१८
तमन्तिके यान्तमवेव्य बन्दिशरैरथ द्रष्टुमगारगार्तां ।	
द्रुतं प्रयान्ती रसनानिनादैराकारयत् काऽपि सस्त्रीरिवाभ्याः ॥	१९
जवेन यान्वास्तद्वेक्षयाय, कस्याश्चिदम्भोजनिभञ्जगायाः ।	
काञ्चौ सस्त्रीभिर्विद्युता गञ्जती, नितम्बतो न स्थिरता तु चित्तात् ॥	२०
तदा तदालोकनलोलदृष्टिः, संबुध्यती स्वाङ्गकमंशुकेन ।	
हृकोदरात्तर्निहितस्फुलिङ्गमनङ्गमन्या प्रकटीचकार ॥	२१
तेनाङ्गना प्रत्यवलोकित्वाऽभ्या, त्रपातिभारेण भृशं नमन्ती ।	
रराज कन्दर्पकिरातमुक्तसमापतन्मार्गैर्गवञ्चिनीव ॥	२२
परा स्मरवेशनिवेशिताशुः, प्रयुक्तनेत्रद्वितयाङ्गनाऽपि ।	
मुषानिधानं सचिवप्रधानं, नालोकितुं सम्यगलम्बभूत् ॥	२३
न पुष्पचायाद्भरोऽस्ति चापी, यस्मादमात्यप्रणयोऽसुखीनाम् ।	
न कन्बुके किञ्चन वेधचिह्नं, भिन्नं मनस्तेन धनस्तनीनाम् ॥	२४
लज्जापती तं प्रति काऽपि बाला, जालान्तैरालेन दृशं मुयोच ।	
इपर्यथाऽज्जीयत चप्रमासमार्गितः कामचमूरस्य ॥	२५
तदर्शनीनां हृदि सुन्दरीणां, मनोभवदमाधवकेऽसौधे ।	
प्रभूतदुर्वारपरिच्छदोऽपि, लभे प्रवेशं सचिवेन्दुरेकः ॥	२६
मन्त्रीगमालोक्य मुल्लोचनानां, स्वभायलोलान्यपि लोचनानि ।	
नान्यत्र कुत्रापि गतिं वितेजुर्गुणैस्तदीथैरिधे मन्दितानि ॥	२७
श्रीस्तग्दमय्युसुकया कयाचिद, दैहिकदेशे निहितं ततोऽपि ।	
धर्मान्भसा शृष्टममायद्यष्टानिष्टासिरन्माऽपि जडादर्थेति ॥	२८
सनीपमाल्यशुपि तत्र मन्त्रिमथो दधाने मुमनःसमृद्धिम् ।	
रोमोद्रेनोद्यन्नवमञ्जरिश्रीनांकन्दमालेय परा न्यराजन् ॥	२९

१ 'श्री मदी' सु० ॥ २ 'याती' बा० ॥ ३ 'णयन्दिनी' बा० ॥ ४ 'स्तरेण[स्य]ह' बा० ॥
 ५ 'सङ्घटतः' बा० ॥ ६ 'य बन्दि' सु० ॥ ७ 'मोघमो' बा० सु० ॥

उदामक्रामक्षितिपाशयेव, क्रियान्तराण्यर्द्धवृत्तानि मुक्त्वा ।	
श्रीगा गण श्रीरुणप्रधानममुं समालोक्य सावधान ॥	३०
स्विनाऽवनि श्रेणिभरेण तावदेव व्रजन्त सचिव त्रिलोक्य ।	
काऽपि प्रयातु पदमप्यराक्ता, सहासुना स्वं प्रजिघाय चेत ॥	३१
ग्रहे शुभे सन्यममाद्यगमुर्दष्ट स दृष्ट्या परिपूर्णैव ।	
पुराङ्गनानामनुरागिणीना नत्रिभागोर्न निभालितो यत् ॥	३२
तत्कालमुन्मालितमानकेतु वगतुराणा पुरमुन्दरीणाम् ॥	
अदत्त चित्त न स दान्ताचित्तस्तद्गमर्पण्या प्रथम हि दत्तम् ॥	३३
रेम न सन्यऽपि वधजनऽत्र नत्रय मन्त्रिमतल्लिकाया ।	
न तादृशास्तादृशसंयमपु, प्रलोभनाय प्रभगन्ति भावा ॥	३४
अथाऽऽनिष सैप नतन मूष्णा गृह्णन् वितोर्णा कुण्डेवालिक्वामि ।	
विभूषितस्तम्भपुरोपशान्यामेकल्लवारा प्रददशै देवीम् ॥	३५
ता सतलोकप्रणता प्रणतु, जगाम दूरे स दुरापकीर्ति ।	
न वेत्ति विद्वानपि सवसती, वाणीश्वरूपेण निज मुक्ताजे ॥	३६
दुग्धेन दध्ना मधुना धृतेन, ग्वणहन तोयेन च द्रुद्धमूर्तिम् ॥	
आनर्च देवां सचिव प्रमून-कर्पूर-शृण्णागुर-चन्दनापै ॥	३७
चकार देवीन्दनारवि दे, स दत्तपट्टं चनसारसगुडै ।	
हर्षं वहती हृदि सप्रकर्षं, साक्षात् सहासव वसौ यया सा ॥	३८
नैवधकुन्दैरनवधकुत्तै, णिष्ठानुकुलध दुकृत्कूटै ।	
धूपैरथ भूपसभानुरूप, प्रसादयामास दयाश्रयस्ताम् ॥	३९
नुया च नया च विरोधवया, देवीं समानीय मुद स मानी ।	
श्रीवीरभूपालदृष्यागद्वन्द्व, स्थितिं ययात्त हृदि च स्वकीये ॥	४०
अधोऽनिष श्रीमसमुधितेऽन्तर्देह स्नात्य दलि दहमाजाम् ।	
शङ्ख समप्रोऽपि रस मगद्व, स्वदान्मुदग्मेन बहिर्बभूव ॥	४१
चण्डसुनौ मण्डयन्ति क्षुमव्य मन्वीन्दनोर्दोषनगैरिष्टे ।	
समं स मन्त्री सुगिता गयन काटावनं प्राप मनीर्दिवर्ति ॥	४२
मन्त्री तदासाध वन ननन्द, प्रीभ मनी शोपयितु स्थित यत् ।	
धमदपरीसहटितागधत्वाद्कागन्तै, प्रनिगर्जनीव ॥	४३
कीर्तिर्निदापस्य दिनेर्मनोगुण्यधसिद्धिर्भजति रस मन्थक् ।	
वनस्य नृत्यानिपत्रमन्थ, च्छयातमी ताग्विना प्रमूने ॥	४४

अमात्यमत्यर्थमपास्तदौस्थ्यं, पिकाङ्गनाकृजितकैतवेन ।	
उल्लामिर्मर्द्धमुकुलाप्रदैत्यः, सत्यं त्तुवन्ति स्म वनाधिदेव्यः ॥	४५
हिमासहोद्यथ समयस्तमिलहिंस्रः सहस्रांशुस्मिं समेतौ ।	
मत्वेव ते भीति-स्ती प्रविष्टे, छायाविशिष्टं वनदुर्गमित् ।	४६
लीलावनेऽरिमन् नवमेघलीलामरन्दविन्दुप्रकरं किरन्तः ।	
विनाऽपि वर्षासमयेन हर्षं, शिखण्डिनां ताण्डययन्ति वृक्षाः ॥	४७
स एव धर्माशुकरानुपह्लादह्लाति पुंसां पयनो दुनोति ।	
धिनीति सद्बुद्धयनोपसेवो, सङ्ग-कुलीनैरेत एव युक्तः ॥	४८
प्रकल्पितायां क्षितिकल्पशृङ्गो, द्राक्षालतामण्डपवेदिकायाम् ।	
वृत्तोपवेगः स चकार गोष्ठीमनिष्टुरोक्तिप्रसन्नैः कवीन्द्रैः ॥	४९
केचित् कुलं भीतिनिराकुलस्य, कृतावदानस्य परे च दानम् ।	
मान्यन्वचमन्ये विनिवृत्तमन्योर्व्याचल्युराख्येयगुणस्य तस्य ॥	५०
कवीन्द्रशैलेन्द्रविनिर्गतानां, सरस्वतीनां प्रसृतान् प्रवाहान् ।	
आरुह्य भूमण्डलमासमुद्रमियति मन्त्रीधरकीर्तिहंसी ॥	५१
कवीचराणां शृणोति स्म वागी, कर्णैर्यथ कर्णसगरस्य तस्य ।	
सोऽपि प्रमोदं हृदयेषु तेषामुद्गारपाणी रचयाञ्चकार ॥	५२
दत्ते स्म तेभ्यः सचिवः कविभ्यः, प्रभूतमन्यद्भुतकीर्तिरर्थम् ।	
आदत्त चिद्रूपतया निगूढमध्यधलेरं तु तद्भुक्तवृत्तम् ॥	५३
मनीषिणां मानसमन्दिरेषु, श्रीमानमात्यो निवसन्नञ्जलम् ।	
तेभ्यः स क्लृप्तं वितरत्यगण्यहिरण्यविश्राणनकैतवेन ॥	५४
तस्मिन् वने सत्कविवस्त्रयन्त्रविनिर्गतेन श्रवणामृतेन ।	
संसिच्यमानः सचिवः प्रधानमहाय मन्थाहमर्थं निनाय ॥	५५
आरायाभशिशिराभाम्नि पथिमायागायाते मुकृतवतामपथिमोऽसौ ।	
तान् कृत्वा धनरुतकैः कवोन् कृतार्थानावानं त्वमभि चचाल वस्तुपालः ॥	५६

॥ इति श्रीगूर्जेश्वरपुरोहितश्रीसोमेधरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि
महाकाव्ये पुरप्रमोदवर्णनां नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



सप्तमः सर्गः ।

अथोदयति निद्रोपे, सचिवेदौ नवे रवौ । कोक कोकनदानन्दि, मन्दिमानमगान्मह् ॥	१
गम्य सोऽपि जगच्चक्षुश्क्षुपा समपयत । क् कालवलनेनात्र, निस्तेजा नहि जायते ॥	२
नौहित्य विद्रुमालीपु, द्रुमालपङ्कजेषु च । अधिक निद्रधे ब्रह्म, किरणै कुड्डुमारुणै ॥	३
शुशुभे दिक्षु सर्वाङ्गु, प्रञ्चलत्तपनापल् । गिरस्थरविरस्तादि, पञ्चाग्निव्रतवानिव ॥	४
त्रियोगान्धया वीक्ष्य, साकृदा चक्रकामिर्निम । प्रञ्जना सहसवासञ्जेहेनव सरोजिनी ॥	५
भिन्नेऽस्तमागते दुःखादप्यै प्रागान् जिहासुभि । शालिमानशिलवालिन्याजादारोपिता हृदि ॥	६
न वित्रम तंरगोपि, क्षगमन्भासवासर । भवत्यभ्यभिचार्येव, सङ्गत गतद्रोपयो ॥	७
प्रताप प्राप मन्दैव, वाहगीसेवया रवे । भवेत् प्रभावभङ्गाय, महतोऽपि हि दुःखतम् ॥	८
निश्चल कस्य वाऽयस्य, भुवने श्रीमैविष्यति ॥ आसीद् वसुविहीनोऽसौ, यदहामपि नायक ॥	९
अपि तादृशमस्ताद्विदिनेश निरकाशयत् । चिर न ह्याश्रय षापि, प्राप्यते दिवसात्यये ॥	१०
कुलायमाकुला सर्वे, पक्षिगस्तञ्जणादपु । कस्यज्ज यथवाँ पस्य, सया सवितुरापदि ॥	११
यनात्ताद् बलमानेन, कुलेनोद्गमितैर्वाम् । पामुभिर्माँसलीभूत, वृत्तोऽप्यविरभूत् तम ॥	१२
समन्ततोऽपि काष्ठाना, प्लुष्टाना चित्रमानुता । धूमेनय तमिक्षेग, प्रसक्षे गगनाङ्गणे ॥	१३
मुक्या नि श्रीरुमप्यत्र मराली न गताऽथत । भ्रमराली त्वगाद् वेगादिद् सदसदन्तरम् ॥	१४
त्रैलोक्यदीपके दवे, लोकातरसुपेयुपि । तमस्तातमभूद् विश्व, क सुखी महदापदि ॥	१५
गते भानौ स्थिते ध्वाते, पभिया सापु मीलितम् । दुरीक्षा महनामापदसतामुन्नतिथ यत् ॥	१६
स्थिवाऽथ प्रस्थिता सप्या, वज्रद्वानिव्रजाशुग । आक्रामत पर लोक, रवे पश्चाच्चपूरिव ॥	१७
सप्तम्यावासर सूर्ये, मन्वा देशान्तेर गतम् । जायाऽनुजाविर्ने रामविव म्पानमभूज्जगत् ॥	१८
क् गन सविता 'प्यान्तमेतदप्यागत कुन ॥ एव सविरमयेन दौ, स्फारतारमवैशत ॥	१९
दीपकाँ अपि दीप्यन्ता, स्फुरन्तु तिमिराण्यपि । तद् गन हि सत्रातीय-विजानीयासह मह ॥	२०
हृद् सुष्टिर्विचित्रैरे, यस्मात् सङ्केतवर्मना । विमानभिसरन्तीना, प्रकाशरुमभूत् तम ॥	२१
प्रदोषान्तर चद्रोदयादवाङ्गु पृथीहृशाम् । मुहूर्तमभिसागय, मारनौहर्जेऽक्रोऽप्रर्वीत् ॥	२२
सुरतव्रतचर्यायै, पर्वद्वादिव सन्निताद् । पापुगानामभूत् पापुनर्पनीयै यैवाधिकम् ॥	२३
नीरभ्रेगाव्यकारेण, रोदसी सप्युगीहृत । अद्योत्पाटयितु क्रोऽपि प्रवृत्त इव पूर्वत ॥	२४
रचि तोषरुमे गति, चक्रमाक्रमितु दिशाम् । प्रमादग्मन नासासमाविगर्मिन् पुर स्युन्त् ॥	२५
रोहिणीरमण वीक्ष्य, रागादागनमलितक । भास्करव तदुदयेनशमादमरदिन्द्रिक् ॥	२६
अयोजगामे सीमन्त, तुमुनाब्रमहीयते । शृङ्गास्य जयोऽगम्यदः तुमुन्वापय ॥	२७

आविर्भव पूर्वस्मादद्रेक्ष्यद्रः जने जने । तैदाथैस्तटमाणिवयन्निणौषैरिवारुणः ॥	२८
चकार तैरिकारोचिरङ्गोरकरकैतवात् । करस्पर्गेन रागिण्याः, सोमो रोमोद्रेम दिव ॥	२९
पुंशलीनां तपच्छ्रितं, समुद्रस्य महोत्सवः । रससिद्धिरनङ्गस्य, दिवमिन्दुरगादागात् ॥	३०
मालिन्ये मार्जयामास, चन्द्रमास्तिमिरैः कृतम् । खलैर्दत्तं मृषादोषमिव सत्पुरुषः सताम् ॥	३१
न्योमाङ्गणविक्रान्ति, तमांसि तुहिनधुतिः । समार्ज हचिमार्कन्या, कुन्दाकुलकण्टक ॥	३२
न मृगाङ्गे कलङ्कोज्यं, कस्तूरसिलकान्वतिः । निर्दग्धो नीलकण्ठेन, तिष्ठयेप शपथ्वजः ॥	३३
द्विव स्वर्वाहिनी हंसैर्विभु दन्तैश्च दन्तिनाम् । मेदुराङ्गनि मेदिन्याः, कौमुदी कौमुदैर्धनैः ॥	३४
कणेहस्य चकोरीणां गणः पीत्वा मुधासयम् । अजायत मदेनेव, गुञ्जपुञ्जारुणेक्षणः ॥	३५
मरीचिनिचये चान्दे, सति सान्दे ममन्वत । धटितं विष्टपं दन्तसन्तया दन्तिनामिव ॥	३६
शान्तश्चान्त-धनस्तोमे, कौमुदी-अरदागमे । हृदि श्यामोऽन्यत श्वेतश्चक्रोरे चन्द्रसङ्गनः ॥	३७
चन्दनैश्चचितेव वीदिङ्गः काशैरिव धिता । क्षीरेण क्षालितेवोर्वा, शर्वरीसे विरानति ॥	३८
पीशूपायसैः प्रीतं, चकोरेद्विजसञ्चयम् । श्रेयोऽर्थं मन्मथस्येव, चकार शिशिरधुतिः ॥	३९
मन्दोर्हैरिन्दुकान्तानां, तदा सभगवदम्साम् । प्रीतये चैत्रमितस्य, चन्द्रधके प्रया ईव ॥	४०
तरुणे तारकाभ्यक्षे, वृक्षाश्रया विरिजिरे । तमसः रण्डञ्चमानस्य, प्रतीकाः पतिता इव ॥	४१
रमययस्त्रिभुवामिचण्डयुतिमण्डले । कन्दर्पवृषते शन्यमेकच्छरमिवाभवत् ॥	४२
सान्दे चान्ताते तत्र, स्फुरन्निः कैरवाकरैः । क्षीरनीरधिपिण्डीगणेषुधानां पाण्डिभा त्रित ॥	४३
नीलान्धमधुमत्तलिङ्गुलकोलाहलैरिव । मानमे मदिराक्षीणां, प्रवुदः तुमुमायुधः ॥	४४
अनपार्श्वभिरारुन्पास्तेनिरे तदनन्तरम् । विजिगीषोरनङ्गस्य, संज्ञाहा सुभटैरिव ॥	४५
अयोस्ताजलनिमग्रायाः, कस्याधित् कुञ्चितभुव । प्ररीरे चन्द्रेने गौरे, सौरन्यादन्वमीयत ॥	४६
सर्वत्र व्यक्तशक्तिनां, तुपारधुतिरोचिषाम् । जगाम वामनेत्राणां, केगपक्षो विपक्षताम् ॥	४७
विश्रुता विश्ववन्द्येन, या शिवेनापि मूर्धनि । सा अयोस्ना सुदगां केगहस्तेन गच्छन्मिता ॥	४८
एतः पादेपु कान्तानां, नखान्तः प्रतिमामिपात् । याचितुं वक्त्रलावण्यकणिकामिव चन्द्रमाः ॥	४९
कचरी कैरवाक्षीणां, कचरा केनकीदने । हस्ततैव व्यभादाभां, विलक्षणमेगलक्ष्मणः ॥	५०
यामिन्यामिन्दुयुगायां शुभ्रवव्रावणुण्डनाः । पम्पिल्लोद्भाषितं विचं, विजपुनरिभारिका ॥	५१
वधुनां वक्त्रमाविदं, रनङ्गुण्डलान्तिभिः । प्रियेषु सविलम्बेषु, रोषारुणमिव व्यमात् ॥	५२
ताडपत्रश्रिया न्यस्तनीलास्मगवर्णया । पुष्टिकेव चकसित स्म, काचिन् कामविपक्षित ॥	५३
कुचौ मुष्टौ शृतहारयटी, सकृन्पुको ग्भ्रतुम्बुजास्याः ।	
रते शिवनाया हृदि रत्नगाय, स्मरप्रमुक्तमिन सौवेद्वौ ॥	५४
आकल्पिता मोहितरेन्दिग्राया, त्रियुदमूर्धनि वधूरस्य ।	
ततोपधानच्छ्रौतो वभूव, निरेसरेदी स्मरपार्थिव्य ॥	५५

१ लक्ष्मणवट १० ॥ २ शारका २० ॥ ३ धारसम् ३० ॥ ४ शिवाश्रि १० ॥ ५ इति १० ॥ ६ सुनादाः १० ॥ ७ मं पौरेः, सो ३० ॥ ८ व, धीष्टि ३० ॥

एकावली वससि भिक्षुगन्ती, राजा रात्रीवल्लोचनाया ।	
चेन शरव्यावैधिवोधैतुर्लगा त्वष्ट्रियेव कृता म्मरेण ॥	५६
दीपप्रभापिञ्जलिनानि रजुरन्धोदरीणा रतमन्दिराणि ।	
आर्प्य चित्तान्यतिरिच्यमानै, प्रियानुरानीरिव पुरितानि ॥	५७
कुरङ्गनाभीरुतपत्रभैर्द्वा, कुचदयी चारदण्डकाशे ।	
मुमोथितस्य म्मरुञ्जरस्य, मदाभ्युसित्वा शयनस्थलीम् ॥	५८
मागिन्यमुक्ताफल-काञ्चनाना, काचि-मरीचिप्रचयार्चिताद्वा ।	
श्वराशु शीताशु हुनाशनाना, मह समूह पिहितव रेजे ॥	५९
ताम्वल वलाऽऽभरण प्रमूढ श्रीवगडसस्कारसमावुलामि ।	
मुनेचनाना परिचारिकाभिगम्यत श्राननयोसवथी ॥	६०
नव वयाध्वजगपतचिन्तमिद सुभाशुर्मुपुरा परिक्षुत् ।	
सरयोऽनुकूल्यश्च विलासिनीना गिदे तदा कान्तप्रिलम्ब प्य ॥	६१
अनिच्छतीना निजमानमङ्ग, सङ्गं प्रियै सचरमिच्छतीनाम् ।	
अथेङ्गितजस्य मनस्विनीना, दृतीजनस्यात्रसगे वभूव ॥	६२
विद्वानपूर्वं सितरोचिरेप, कृतव्यलीरै सह कामुकैर्यै ।	
लमे प्रकोपेऽथ निसर्जनीये, सधि विधत्ते रम पपुञ्जस्य ॥	६३
विमिन्नयोरङ्कि रणा रज यासुदञ्चदुर्ध्वैर्मुतापयोध ।	
श्री पुसयो सङ्गमनच्छ्रान, प्रागप्रदा काऽपि वभूव भूय ॥	६४
मानार्पण्य काऽपि बिलद्वय वेम् गतु प्रवृत्वा दयितस्य यावत् ।	
तावत् स एव स्वयमाजगाम, काम त्रिमिष्ट न करोति तुष्ट ॥	६५
विलासवेश्माङ्गणमागतेषु कृतापरार्थेवपि बल्लभेषु ।	
मनस्विनीनामथ मानमुद्रा, भूमङ्गशेषात्सरोडनङ्ग ॥	६६
निष्कान्त्य काम प्रसभ प्रकोप, पुन प्रवेश प्रतिपेद्गुमस्य ।	
अङ्गानि सारङ्गप्रिलोचनाना, चक्रे स्फुट ऋण्टकवैदितानि ॥	६७
कि नेत्रमार्गेण मनोज्ञरूपा, कर्णाञ्जना वा मधुर वैदन्ती ।	
मासापयेनाथ सपुष्पासा, प्रियस्य चित्ते प्रविशेण काञ्चित् ॥	६८
अगन्तिभि सव्यवहार्यता यतैरनुजयेव दिजन्तृवार्तिन ।	
कान्तै सम कात्तनिजोचनाजन, परिक्षुत पातुर्नयोपचक्रते ॥	६९
कन्दर्पकेलिप्रथमप्रयोगसज्जातलज्जामुत्तुलीकृतानि ।	
तदा मदेन प्रकटीवभूर्मुमञ्जुवा विभ्रमचेदितानि ॥	७०

१ 'धिविद्य' प्र० ॥ २ अङ्ग प्र० । अङ्गि वा० ॥ ३ नवन्ती गु० ॥ ४ 'मथ प्रचक्र' प्र० ॥
 ५ 'सुपर्णधुवा' प्र० ॥

असाय कन्धर्पगुरुपदेशान्मघं महानन्दमिवाङ्गनाभिः ।	
न्याघृत्तवस्वन्तरवासनाभि, कृता किराट्टिपि पत्न्युपेता ॥	७१
मेदाकुलानि प्रमदाकुलानि, विरेजुरापानगृहाहणेपु ।	
हृदि प्रविष्टस्यारचित्रपुद्गुःत्तत्रिवोद्बूर्णितमस्तत्राग्नि ॥	७२
अर्धरैरधरीकृतं वधूनां, मधुमाधुर्यमथैमि विद्रुमाभैः ।	
दयितैरत एव तेषु पानप्रतिपत्तिर्विहिता विहाय हालाम् ॥	७३
परिजनैः प्रथमं गतमन्तिक्रादपसृतं वसनैर्जघनादथ ।	
तदनु यानमथ नपया हृदः, स्थितमिहात्मसुवैव नतभुवाग् ॥	७४
आलिङ्गितायाः सुमगेन गाढमुदरम्भादलमार्द्रपेभ्यः ।	
स्वेदोदविन्दुच्छ्लेतोऽपरध्वा, सुत्वाव लावण्यमियाङ्गकेभ्यः ॥	७५
सकलमपि वपुर्विभ्रमानं, मदतशरैरवलोक्य कामिनीनाम् ।	
शरणमिव रदच्छदः प्रपेदे, प्रियवदनं यदलं प्रसव्य पातुम् ॥	७६
मैर्यपानच्युतचेतनानां, तासामसाधारणविभ्रमाणाम् ।	
नस्वाङ्गुशैरप्यनचातसंज्ञो, गम्भीरवेदी मदतद्विषोऽभूत् ॥	७७
आहातुं विषमशं पुरोऽनुवोको, दोषहोक्लयरवोऽभवद् वधूनाम् ।	
तैवज्वा मणितमभूद् मोहनाश्रित्येमेऽस्मिन् मधुमधुराधरोऽसोमे ॥	७८
निगदितुं विधिनाऽपि न शक्यते, सुभटता कुचयोः कुटिलश्रुवाग् ॥	
सुरतरंयन्ति यौ प्रियपीडितावपि नर्ति न गतौ श्रुतकञ्चुकौ ॥	७९
उपरतमुरतश्रगस्त्रियामासमयविराममतोरमैरुद्भिः ।	
सरसनखपदे हृदि प्रियाणामथ दायितः कृशमन्यमासमाजः ॥	८०
अवनमदघृतांशुविग्वमौन्दिगीलितवया इव शर्वरी भ्यराजन् ।	
अमत्रत कजुभे च जम्भजेनुर्जतुरसरक इव प्रभाप्रवाहः ॥	८१
यातः शक्तिरुचिः प्रतीचि तल्यौ दिग्दीरपिण्डच्छवि—जृम्भारम्भमनोरमा कमलिनी सुनोशितेयाम्भन् ।	
वक्रत्वं च विधिर्विभूय सदयं चक्रेपु चक्रे मन, सौरणाजनि कुङ्कुमाह्यम्विव प्राचीमुखं रोचिषा ॥	८२
देवोऽयं भुवनत्रयैकनयनं प्राप्तः प्रमाणां प्रसुः, कलां य कमलोदयं जगदिदं मोहाम्बुपेरुद्गरन् ।	
प्रातस्त्यः समयो वयोविहृतिभिर्वोमेति यथापय—आचिच्छेद तदीयमन्धनमसन्त्याजेन संन्यातकम् ॥	८३

॥ इति श्रीगर्जेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवचिरचिते कीर्तिकौमुदीनासि
महाकाव्ये चन्द्रोदयवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥



अष्टमः सर्गः ।

अथ पाथोजिनीनाये, चुम्बयाशा विडौवस । प्रबुद्ध पद्मजेनय, प्रिय पात्रेण मन्त्रिणा ॥	१
फोकरुद्र तदाऽऽप्येभ्य, सङ्गत सम्भवाद स । परकृटे निनेष्टे हि, सना प्रीति प्रचीयते ॥	२
उन्मादं यैस्य पमाना, दुमुदाना च मदताम् । क्षणिकं च निमृतीना, चतसरा निधिनाय स ॥	३
कदाप्युदयति ध्वान्त, कदाप्यर्कश्च धिग् विधिम् । तुभ्य नीचिऽप्यनीचेऽपि, स तदेति व्यतर्नयत् ॥	४
कर चिक्षेप तक्षणाशुर्दुस्तेरे तिमिरान्धुधौ । प्रदातुमिव मत्प्रत्य, भुवनन्यायगन्धनम् ॥	५
विच्छायास्तितिरि तुच्छे, रेजुर्दीपाधलच्छिवा । पैद्गाम्ते पय शने, स्फुरत शफरा इव ॥	६
तस्मै सपदि भिन्दान, करभ्रैस्तिमिरामुरम् । गेषणवारण पूषा, प्रादुरासाम्भृष्टिहृत् ॥	७
अथोज्जगाम वामच, तुमुदेषु प्रदर्शयन् । शिष्टपञ्चयह्रैरुप्राह्वित्वाको दिवाकर ॥	८
मलिनीभनदाशाते, शाते प्वातघ्नोदये । अजावतसित हसो, नभ कासारमासदत् ॥	९
न्यासीहृता पर देय, गच्छता भास्करेण या । स्फुट स्फुरिर्गर्भेहि, प्रतिदत्ते स्म तां विमा ॥	१०
विवृतिर्विधस्यस्य, दद्या निस्तिमिरोपधी । इष्टवार्ता च पमाना, दियुते दुमणियुति ॥	११
चकोरचक्रवालस्य, पातर्गति यरोदया । तमक्षक्रमधक्षकृष्णडोचिर्मरीचय ॥	१२
प्रसारितकरं सूरसि धुरेऽनुषारति । सुमेर परिवन्नाम, तमस्तोम पुर सर ॥	१३
कुवाण क्रिणाडूरैरयतसथिय दिनाम् । नमन्त्रिभागमामगच्छश्रिजनीत्रोवित विमु ॥	१४
विलोल्येचना प्रातर्मीश्रिमायानि तयजु । लोके हि कारणनैव, गौरव गुणिनामपि ॥	१५
हृदि प्रियरियुकाना, साङ्गना बाष्पविद्व । मन्नाना मारणाणा, पुह्ला इव विरंजिरे ॥	१६
यत्रात्रे भुनागमास, प्रासयस्तिमिरोक्करम् । सुवर्णरुचिराकार, सुपर्ण इव भास्कर ॥	१७
अथ धर्मैरुनिष्ठातो, निष्ठात शुचिभिर्जैः । वस्तुपाठलिङ्गालं जगन्पूज्यमपूजयत् ॥	१८
बल्लेगोत्तरीयेग, स बभौ बुदिमत्तर । तुराययुगभातेन, सुहृत्तेनेव संश्रित ॥	१९
मत्सरञ्चरसत्प, मये मुक्त्वाऽयमानसम् । आदिनाथः स्थितस्तस्य, हृदि सौहार्दरीतले ॥	२०
भालं तस्य विभाति स्म, चादनी तिलकाकृति । हृता सुकृतिना र्मये, रेखा सुदयेव वेपसा ॥	२१
अलिङ्गित गर्भनेव, पृथग्भूत कलेरिव । सद्वृत्तेनेय निर्द्वेष, न तदा शुशुभे नृशम् ॥	२२
देवेन्द्र स्वतस्तस्य, रेजुर्दशनर्दक्षय । न कालोमालितान दमुषाश्रिगणप्रिय ॥	२३
दावा दानानि पात्रेभ्यो, नचा गुरुजन च स । मत्त्वाश्रितेन चित्तेन, भव भावितवानिति ॥	२४
अहो ! सत्सकारा तर्माथानिगडितामनाम् । जायत जालु जन्तुना, न कथञ्चन निर्द्वेषि ॥	२५
केचिद् बुन्नाय धावति प्रधुम्नाय च केचन । नोद्युङ्के कोऽपि धर्माय, सवामिप्रेतहेतवे ॥	२६
मोर्देमानोऽन्तरामैव, साक्षी यत्कर्म जर्नगे । तमप्युपेक्षते धर्ममहो ! मूढमन्ता जन ॥	२७
यस्मिन् सन्निहिते बहि रिपाया प्रभवति नै । धमादप्यपरस्तम्भात्, क शरण्य शरीरिणाम् ॥	२८
धर्मसिद्धौ ध्रुवा सिद्धिर्धुम्न प्रधुम्नयोरेपि । दुग्धोपल्भे सुल्भा, सम्पत्तिर्दधि सर्पिषो ॥	२९

उच्चैर्गर्वं समारोह्य, नरं धीराद्यु नयति । दौःस्व्यदत्तावलम्बोऽथ, स तस्माद्रवरोहति ॥	३०
जितं लडितं ! त्वया वस्यै, जनस्तमपि सेवते । धनं निकारपूर्वं यत्, प्रदत्ते प्रेननाथवत् ॥	३१
धनस्याधर्मलभ्यस्य, मुणो लामेन तुप्यति । मुहुतास्य दुरापस्य, न तु हानिर्नैवक्षते ॥	३२
असाद्यते यथा स्वर्गः, श्रिया सन्मार्गद्रतया । स्वयथा तामश्रयधर्मैः, मूर्खाः क्रीगन्ति दुष्कृतिम् ॥	३३
स्वयमुपादितां लक्ष्मीं, पुत्रीमिव मनीषिणः । दात्वा पात्राय तदानफलमेवोपमुञ्चते ॥	३४
वित्रादेष्टुपमुक्ता या, पुत्राद्यैरपि भोज्यते । कामयन्ते न तां सन्तो, प्रामदेऽप्यामिष श्रियम् ॥	३५
तत्कैर्यो दुर्दृशीर्वा, हतं संसहते धनम् । कद्रयो नैव सन्कार्यै, कन्वययन्मन्यदः ॥	३६
अन्धा एव धनान्धाः स्तुतिरिति नश्ये तथाद्रि ये । अन्योक्तेनाश्रया गच्छन्त्यन्यहस्तावन्निनः ॥	३७
धनी धनायये जाते, दूरं दुःखेन दूष्यते । दीपहस्तः प्रदीपेऽस्ते, तपसा वाश्रयतेऽधिकम् ॥	३८
आदावेव निहारं यः, प्रदर्शयति देहिनाम् । भगोच्छेदैरुमात्रेभ्यो, विमवः स्वायते स किम् ! ॥	३९
न संसारस्य वैस्यमिदं वेति जटो जनः । यत् मुसं स मुलानासो, यद् दुःखं दुःखनेन तत् ॥	४०
रमयन्ति मनस्तावद्, मावाः संसारसत्सम्भवाः । यावन्न श्रूयते साश्रुलोकैः कारकाहला ॥	४१
अहो ! देहभृतां मोहः, प्ररोहन्ति महालयम् । यदेते सुखमिच्छन्ति, श्रियैर्दुःखेस्तुभिः ॥	४२
छत्रच्छायाच्छेनामी, धात्रा चक्रे निवेशिताः । भ्रमन्तोपि स्वयामानं, मन्वते स्थिरमीधराः ॥	४३
मदान्धास्ते परं लोकं, कथं परश्रुतु भूमजः ! । तमोमाटलमन्यस्याऽऽरुद्रायाश्छेने ये ॥	४४
मुसं विपश्चेवेति, सक्तास्तैव जन्तवः । यः प्रमोदस्तु तस्यागात्, तत्रास्वादः क्विद् यदि ॥	४५
भवस्यं नभरं देहं, दुर्दमं, च यमे द्विषि । हीत्यमात्याद् विनियान्ति, यत् पुंसामिद्रमद्रुतम् ॥	४६
फालेन नीनिकेतयं, नीयमानो जनः पशुः । श्रिययेव शिगासन्ने, मुसं विपयसाहले ॥	४७
कायः कर्मकरोऽथं तन्नान कार्याऽनिलालना । मृनिगाजोविनो देष, प्रपुशो विचिकीर्षते ॥	४८
प्रदीपकान्यकार्येषु, नश्यन्त्याद्यु महापदि । दुर्मित्रार्णो रग्राप्येव, बन्धुबुदिरधोमताम् ॥	४९
योऽयं जांविभूतेषु, स्नेहप्रतिभः मुतादिषु । विभौगावसरे पुंसं, व्यक्तः तोऽपि भविष्यति ॥	५०
दुःसाक्षिवां स्मसाक्षिवां, क्रोधाक्षिवां हृदि ज्यञ् । न हन्तः ! शान्तिमायाति, देहिनामविशेकिनाम् ॥	५१
अग्निमात्रेव सेवन्ते, हन्तः ! विषां व्युदस्य ये । ते दूष्यामनुश्रयन्ते, वाराद्राविहायिनः ॥	५२
तदस्य प्रेक्षते योगी, जगदम्बिन् भवाणीये । मज्जनेभज्जने कुर्वद्, दुष्कृतैः सुदुर्गैर्मित्रैः ॥	५३
विप्राणिपसुस्यस्य, दण्डमादाय ये शिष्याः । संसारसारमेयोऽसौ, विन्त्यु तेभ्यः पत्रयते ॥	५४
सयं संवर्द्धनार्थं, दुःक्षैः पूर्णां निरन्तरम् । यत्तन्व्यतिरेकेण, नान्यत् क्रियतिहावने ॥	५५
विशो विन्दति सन्तोषे, वनं धर्मः शरीरिणाम् । स एव केवलं तस्माद्रमार्कं जायता गतिः ॥	५६
मुचिामिति विचार्य पुण्यधर्मयोः, त्रिषुपि चिकीर्षति सत्र तर्कयाशाम् ।	
विदादय वैभैः प्रदानतपद्माद्, कुरुपन्वदमयुग्मन्टोऽभूत् ॥	५७

१ 'मोऽथः', म्य मु० ॥ २ विकारः पूर्वा शीघ्रं निचनमिति भावः, एष मरुत्सु प्र० टि० ॥
 ३ 'मपसा' वा० मु० ४ ४ वीडन्ति वा० मु० ॥ ५ 'विपयमो' प्र० ॥ ६ 'दुराटो' मु० ॥ ७ 'ति
 सार्यं' ल' मु० ८ 'गात्' प्र० टि० ॥ ९ 'व्यदते' प्र० ॥ १० 'कपून्कारकाहलाः' मु० ॥ ११ 'हास्यं
 भाहया' वा० मु० ॥ १२ 'विमवाय' वा० मु० ॥ १३ 'वयो' मु० ॥ १४ पयःप्रदानतपद्मगुर्' मु० ॥

भवमवरमिभं विमृश्य सन्मग्नं, गलितरसैर्विषयेषु वारिवाहै ।	
मुनिभिरिव निबद्धमौनमुद्वैगमनवनं विमलहृत्प्रमिथ्र भेजे ॥	५८
पतिरनितपति स्म वासराणामतिशुभति स्म विभावरसुजङ्ग ।	
जलमतिभजति स्म निर्मल्लवं, मयुरमतिव्वनति स्म राजहंसी ॥	५९
पुलिनपरिसरे सरस्वतीनामजति समागमनं मुखञ्जनानाम् ।	
भवति यदवलोकनादनाचिच्छतहसितारिसुखं सुखं जनागम् ॥	६०
त्रिनिवलयत्रयोजिह्वानखांग, क्रमविरमज्जलद्रसिन्धुतीरा ।	
शरदवनरति स्म मचहंसा, दिशि दिशि कागनदम्बकावतंसा ॥	६१
सुदृशविटीपिन प्रमूनशूयानलिपटल परिदृश्य सप्तपथै ।	
सममरमत दन्तिदानमर्धैर्जगति समृद्धमुपैति सर्वं पथ ॥	६२
विद्रेन्निजगदापद पयोदा, परिगलिताम्बुविभूतयो वमूहु ।	
अहह ! न सृष्ट महीयसामयुदयमिधं नियतिधिरायवैरा ॥	६३
फनमयसमयापये विनिष्ट, ऋतुपुरषो भवतीति तथ्यमेव ।	
दधतुगपरथा कथं विकारां, दिनपति-रात्रिपती तदीयनेत्रे । ॥	६४
सरसिसुरभि स्र सर्गार, कैल्यमसमृद्धिसमुद्रता धरित्री ।	
कलमपि कलहसकानिर्नता, रसितमथ व्यथयाश्चकार पाश्वान् ॥	६५
कलयति फलजोद्भवे प्रवदा, मलयनगक्षधागत नभोविभागे ।	
शर्गदगदमगूत् पयध पेय, गनु मज्जनामुदयो मुद न करय । ॥	६६
स्नानितपुपगत पयोपरागा, व्यनिरजनिः कतुघ्नता विशिष्ट ।	
परिह्वनमवनीजडे शिल्पिप्रैर्जन्मलमत्रियनगरि दष्टु-ये ॥	६७
गरगुपत्रयप्रभै पयोदैर्विषाणि कृत व्येथित व्यये न वरय ।	
अधिपतिगन्निमाप्रमुधासदा, तदिय सुगन्धितमुसमग्रे तेज ॥	६८
भारत संख्या चैतभास प्रदोषे, गेदाःप्राडोरीत्तिका दीपवार्त्त ।	
दुर्धैर्दिग्धा नर्दग यत्र पथ्य, दिष्टया रिष्ट स प्ररिष्ट वृथिन्याम् ॥	६९
हंसागा नयनार्द्रादभो सुनानामागर्दैरिव सुगश्शुभमेव विद्याम् ।	
ब्रह्माग्निभुवनमागमुधोऽग्निमहादेव्य स्वधतुगधोपमज्जतर ॥	७०
स्वपदे धारि निपातिताभरपनुर्धेम व्ययनाभस पशोटा मवता मितच्छदवपुगण गकागा पु ।	
भानि स्म प्रपदमदृश्रयनिजा तैर्दृश्वपूनेजित्... श्यामाभं धग्मभंतेर ग्नाक्षर दिव्यामिनीदर्पण ॥ ७१	
॥ इति श्रीगुजरेश्वरपुरोदितश्रीसोमेश्वरदेवचिरचिते श्रीनिष्कौमुदीनाम्नि	
महाकाव्ये परमार्पण्यारो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥	

नवमः सर्गः ।

चिकीर्षिता श्रीसचिवेन तीर्थयात्राऽथ सोऽयं समयः समेतः ।	
महात्मनार्महितकार्यसिद्धौ, विधिर्विधत्ते हि सदाऽऽनुकूल्यम् ॥	१
धर्मैकमित्रोपनिमैन्त्रणार्थं, तेनार्थिमित्रेण चराः प्रयुक्ताः ।	
न केवलं स्वेन कृतार्थितेन, परैः कृतार्थैः कृनिन कृतार्था ॥	२
स्थानथाऽऽनन्दविसंस्थुल्लोऽयं, लोकः प्रयाणप्रवर्णांधकार ।	
उपक्रमे पुण्यकृतां क्रियाणां, रामस्थमभ्यस्यति को न साधुः ? ॥	३
पायेयवन्तः पथि योग्ययुग्याः, सोपानहः सोदकभाजनाथ ।	
श्रीवस्तुपालेन समं जनौघः, प्रयाणकाय प्रवणा यभूवुः ॥	४
आकारितस्तेन कृतादरेण, दूरादपि श्राद्धजनः समेतः ।	
यदुस्तदीयानि पुनर्थशांसि, दिगन्तरेभ्योऽपि दिगन्तराणि ॥	५
समं समभ्रैरपि बन्धुवर्गैर्निसर्गैर्बन्धुर्विबुधव्रजस्य ।	
शुभे मुहूर्तेऽथ शुभैर्निसितैर्मन्त्री स्वनाथानुमतः प्रतस्थे ॥	६
पुरः प्रदास्तां फल-पुष्पहस्तां, प्रमोदमानः प्रमदां विलोक्य ।	
निरन्तरायां पथि तीर्थयात्रां, मन्त्रीश्चरथेतसि निश्चिकाय ॥	७
स्थितः क्षणं क्षीरतरोरधस्ताद्, दृतानुदृत्तान् सुजनान् निवर्त्य ।	
खरस्थ वामं स्वरमध्वगामी, शुश्राव शुश्रावकचक्रशंक्रः ॥	८
जक्षेपु नित्यं कृतनिग्रहोऽपि, जग्राह तांस्तान् नियमान्मात्यः ।	
स्वभावशुद्धाः सुधियो हि तेषां, पावित्र्यलाभाय तथापि लोमः ॥	९
स्थैस्तुरङ्गैः करभैर्महोदैर्भमुस्तदा केऽपि कथयन्नापि ।	
मन्त्रीश्चरे धर्मधराधुरीणे, तस्मिन् विदाधाम भरस्तु तेषाम् ॥	१०
न बाहने यस्य स तस्य यानं, नासीद् धनं यस्य स तस्य वित्तम् ।	
न चीवरं यस्य स तस्य वस्त्रं, कल्पद्रुकल्पं प्रददौ पदव्याम् ॥	११
भुङ्क्ते स्म सर्वेष्वपि मुक्तवसु, शंते स्म सुप्तेषु स यात्रिकेषु ।	
प्रबुभ्यते स्म प्रथमं तदित्थं, सद्गप्रमुचनतमाचचार ॥	१२
प्रभूतभोग्यानि बहुदकानि, सगोरसान्धुमदमानयानि ।	
तथापिदुर्गैऽपि पथि प्रयागान्धुधानन्त्यासदृशान्यमूयन् ॥	१३

१ 'यं शरदा समे' मु० ॥ २ 'निबन्धनार्थं' मु० ॥ ३ 'म् स्वम्' प्र० वा० ॥ ४ 'लपतः'

वा० क्ष० ॥ ५ 'दो पृथिव्याम्' वा० मु० ॥

यात्राप्रसङ्गेन जगाम वेपु, पुत्रेषु पौरोच्छ्रिततोरणेषु ।	
तेषामर्थांशे सविशेषनेपे, सम्मान्यमान सममानयन् तान् ॥	१४
अभ्यर्च्यमान पथिकैरनेकैर्वस्तुन्यनेकान्यपि वस्तुपालः ।	
तेस्य प्रभूतानि पथि प्रयच्छन्, नाहङ्करोति स्म न कुप्यति स्म ॥	१५
गौतानि जैनान्युचितानि गातुं, जनो जगौ वर्मानि मध्यमन्ये ।	
प्रमोदपूरोद्गतरोमराजिर्निस्तर तस्य पुनर्यथासि ॥	१६
अनुक्रमेण प्रसूताऽस्य साधो, सर्वा धोरणी यानिकुधोरणानाम् ।	
वैमानिचैव्योमानि नाकित्रैकैर्भूमानयष्टिप्रनिमा न्यलोकि ॥	१७
पुरश्च शृष्टेऽपि च पार्श्वयोश्च, परिस्फुरत खरहेनिहस्ता ।	
यात्राजन वर्तमाने तस्य गन्धदद्याधिहृदा सुमटा ररक्षु ॥	१८
समुद्भूतैर्गोत्रिजनेन्द्रहर्ष्यैर्नवै सरोमिश्च सरोजरस्यै ।	
प्रस्थानमार्गं सचिवस्य सोऽभूदजाननामप्युपलब्धीय ॥	१९
यावत्त निम्नानि जिनेश्वराणां, श्वेताम्बराणां च कदम्बकानि ।	
मार्गेषु तेषा मुपिताश्रितातिं, पूजा स निर्वर्त्य तत प्रतस्थे ॥	२०
स पथैर्निर्विषमप्रपन्नप्रयाणकै प्रीणितैर्महल्लोकै ।	
धराधर धर्मपुरधर थीशुत्रुजयं जनुजयी जगाम ॥	२१
आरभ्य सथादपि मुदेऽस्मिन्मोचये कस्मच्छुक्तेता ।	
मन्त्री मित्रमर्थज्ञोपगमर्, रपर्दिने नाम ननाम यक्षम् ॥	२२
स कर्दभैस्तस्य तनुं कपर्दियन्मथ यक्षोपपदैर्विन्ध्य ।	
पुत्रैरनैर्विन्ध्यसद्विवेकद्विगोपकपूयस्य चपाग पूजाम् ॥	२३
अन्वग्रमन्वगततमस्तपसमोगे भूरेगुभृता जनन ।	
शून्नाविविन्ध्यानरिपन्मुगोऽपि, सोऽत्र मुपेताऽऽरह मेर्द्वि ॥	२४
तयाऽऽदिनाशय नमारयन्ते, नैत्र च पूजा च शिष्य मन्त्री ।	
पुग पुरङ्गिनयना प्रमोदतैल्यमना नृयमदारयन् स ॥	२५
संश्लिष्टमप्यवदन्प्रपौ, नै श्यमान् विष्टवददनीयम ।	
अनेयनेश्वेनयमादृश्य यथा पुमाग परम स मन्त्री ॥	२६
विरप्यमान सविबन तन पूजादिनी पूयत्रमथ तस्य ।	
सङ्कुरुमन्मानकच्छन्न, मन्त्रवाऽऽनेरयन भोगगाम ॥	२७
न केवल केवलिकजननी, हृद्यन्तर्न सनिनय मोऽम्बु ।	
शुश्रूषाऽऽयेष विष्णवया, तयाज नान कस्य नैदीयम् ॥	२८

१ शैलानुचिं वा० ॥ २ वस्तुन्य २० वा० ॥ ३ व्यापारणी वा० वा० । ता शौर
 विद्यां मु० ॥ ४ तत्रागलो वा० मु० ॥ ५ मदीग्रे वा० । मदीग्रेः मु० ॥ ६ क्मानं च मु० ॥
 ७ मन्वागमना वा० मु० ॥ ८ कस्य ततोऽङ्गरागम् मु० ॥ ९ यदीयम् वा० मु० ॥

श्रीनामिसु नुरुगनागिसुख्यैः, पूजोपहारैः प्रचुरैः प्रसन्नः ।	
मन्ये स्वभावादपि वीतरामः, स स्कीतरागं सचिवे बभूव ॥	२९
स धेत-पतिर्वसनैर्घृत, धान्नि प्रमोस्तस्य महापताकाम् ।	
सरोजराजीरजसाऽनुविद्धो, जिन्ये यथा सिद्धसरिप्रवाहः ॥	३०
धर्माय निर्मापयति स्म तस्मिन्, मन्त्री धरित्रीधृति वस्तुपालः ।	
श्रीनैमि-पार्थप्रभुहर्षयुष्ममज्जमनेत्राचलशृङ्गचारु ॥	३१
प्रासादसौन्दर्यविलोकनेन, सम्भृतमूयस्तरसम्भ्रानाम् ।	
विभास्ति तत्कान्तिकरम्बितानि, कृतभिमतानीव दिग्गां मुखानि ॥	३२
यदुत्तमाङ्गतिथितातयुम्भकुम्भन्वजस्फुग्दभीशुभिनाः ।	
अन्पेड्यनेन्या इव वासरान्ते, चिराद् विराजन्ति कराः खरांगो ॥	३३
कथं न विधैककुटुम्बकोऽती, यस्त्यक्तमेदं षट्पाञ्चकार ।	
यन्मण्डपे चण्डपपीत्रपीत्रः, त्वयूर्वजानां सुहृदां च मूर्त्ताः ॥	३४
स्वस्यानुजरस्यापि च मूर्त्तियुगं, तुरङ्गयुग्मस्थमचीकरद यः ।	
मनीषिणां सुहृद्यत्तमोऽपि मन्ये, वृष्टथमात्मानमयं न वेति ॥	३५
शैलोपकण्ठेऽयमकुण्डलुद्धिः, सरः सरस्वत्सदृशं चकार ।	
उज्ज्वेऽपि नोष्णानि भवन्ति यस्य, वारीणि रीगाध्वगजीवितानि ॥	३६
द्वित्रागि तत्रैव दिनानि नीचा, क्रीत्वाऽर्धदानैः मुकुतं यशश्च ।	
कथञ्चिदावृच्छथ तमीशमाध, माथनसौ रैवत्तकं जगाम ॥	३७
तमुज्जयन्तापरसंजमदिमात्राविधेयास्तिष्ठसहलोकः ।	
स विश्वमुच्चैरमृतेन सिद्धन्नपागमजन्म इवान्बुवाह ॥	३८
तुरङ्गमागां चरगाग्रयातेहदूतदूलांपटलच्छलेन ।	
तस्य प्रयागे प्रणयिप्रिपस्थं, नगोऽनुगच्छन्निव स व्यराजत् ॥	३९
मनो न रोगापदमाप कोऽपि, न कापि यान्म्यसन्नं बभूव ।	
कस्यान्यभूत् तस्युक्तमभावात्स वस्तुनो हानिरहानि तानि ॥	४०
सुखेन साधैः पथि यात्रिकाणां, सिन्धूरगाथा अपि तास्ततार ।	
संसारानानानपरमस्थि, स तु स्वयं लङ्घयितुं प्रवृत्तः ॥	४१
मनामनाल्लोकितदुर्निमित्तः, पदे पदे प्राण्यतृगोदकाढ्यः ।	
अर्हिसज्जिवेध बभूव तस्य, मार्गः मुदुगोऽपि क्लिानुकुलः ॥	४२
तीर्थैः सगर्भैरुपचर्यमाणं, सिद्धैरनैरुपहृत्यमानम् ।	
ग्लैरन्तैरुपचीयमानं, मूर्त्तैः प्रमूर्त्तैरुपजीव्यमानम् ॥	४३

फलानि पुष्पाणि मनोरमाणि, यस्य द्रुमाः प्रव्यहमुद्रहन्ति । अत्यन्तभक्त्यु भक्त्यवस्थं, श्रिये महत्यै महतामुपास्तिः	॥ ५९ ॥
श्रीनेमिनाथेन जिनेश्वरेण, पवित्रिते यत्र धराधरेन्द्रे । हिंसाः समुञ्जन्ति परःसहसाः, स्वभावसिद्धामपि वैरवुद्धिम्	॥ ६० ॥
तं गोत्रमुद्ध्यं विधृतक्षमं च, सङ्गजातं च समुन्नतं च । श्रीवस्तुपालः कमलादचकुन्ध्यं, स्वैकल्पमुर्वीधरमारुरोह	॥ ६१ ॥
रीणान् धुरीणात् युगतो वियुज्य, जनेषु यातेषु तमडिमुच्चैः । अस्थायि तेषां शकटैरफस्ताव सद्गतिः स्याद् वृषवर्जितानाम्	॥ ६२ ॥
न केवलं शैलशिरोऽधिखुद्दः, समानमानानधरीचकार । अथो विपौतुं स विशुद्धबुद्धिः, संसारमप्यारभते रम्य मन्त्री	॥ ६३ ॥
श्रीनेमिनामानमानदांथैस्तेजोभिर्भुञ्ज्वलयन्तमाशाः । जिनेन्द्रमथैव जनेन्द्रमन्त्री, निदर्शनातीतमसौ ददर्श	॥ ६४ ॥
स्नोयं स पात्रप्रतिपादितार्पस्तीर्थोदकैस्तीर्थकरस्य तस्य । कृत्वा च कृष्णागुरुचन्दनाथैर्विलेपनं धौतमलानुलेपः	॥ ६५ ॥
धनैः प्रसूनैर्वसतैस्सूनैः, पत्रैः पवित्रैरग्नैः प्रधानैः । गृहैर्वेषुनां च गृहैर्तापिगोमैः सदानैर्विततान पूजाम्	॥ ६६ ॥ शुभम् ॥
प्रभोः सपर्यावसरेषु तस्य, कर्पूरैरूपै परितः स्फुरद्भिः । तमग्निमेकं सुरभीचकार, दिगो यशोभिः स पुनः समप्राः	॥ ६७ ॥
श्रीनेमिनाथावसथान्तरस्ये, कर्पूर-कृष्णागुरुभूषधूमे । पलायमानः कञ्चिप कालस्तकालमासीन्महाकानुकारी	॥ ६८ ॥
धर्मक्रियाविस्मृतराजकार्यैस्त्वैव निन्ये स बहून्ग्रहानि । असक्तमासक्तमर्मास्तिवैर्धे, कालतिपातं न हि वेत्ति चेत्	॥ ६९ ॥
ममजगन्प्रतिमः प्रभासे, चन्द्रमभं चन्द्रसमानकीर्तिः । श्लाघाचक्ररुन्धरमाद्भुल्लोके, लोकेन सौराष्ट्रनिवासिनाऽसौ	॥ ७० ॥
अभ्यर्च्य भक्त्या भवमत्र तीर्थं, श्रीसोमनाथाभिषया प्रतिद्वम् । प्रतप्रमूनाञ्जलिना प्रदत्तो, जलाञ्जलिस्तेन पुनर्मवाय	॥ ७१ ॥
तेनोपनिर्तिर्षनसारूपैः, स्वमङ्गमङ्गारितमोक्तेषुः । शक्रे स लक्ष्मणरुन्धराभैदिराय विरं सुरभीचकार	॥ ७२ ॥
अनेन स्यापितसाराण्यस्पर्शेन तदेसगिवासिनीनाम् । सुवासिनीनां वदनाञ्जराजौ, निवेशिता स्वस्तुनिराजहंसी	॥ ७३ ॥

१ स्वस्तुस्वम् २ = वः ॥ २ 'प्राहुं सुवि' वः ॥ ३ 'रथ्युज्य' वः ॥ ४ स्तर्त्त स
सु ॥ ५ 'रपूरैः परितः' सु ॥

一、 廣東省教育廳
 廣東省教育廳為查核各縣教育經費支用情形，特令各縣教育局，將各縣教育經費支用情形，填具「教育經費支用表」，並檢附各項收支憑證，於規定期限內，彙報省廳備查。此令。

KATHAVATE'S INTRODUCTION

to the first edition of

KĪRTIKĀUMUDĪ

Kirtikaumudī, like *Vskyamankadevacharya* and *Sriharshacharya*, is a Panegyric written by a poet on his patron. In this instance the patron is not a king, but the minister of a king. In order to interest the reader in the poem, it is enough to mention that it was the hero of this panegyric and his brother who erected the justly famed *Jaina temples* on Mount Abu. If a sentimental traveller while winding his way to the temples through the mountain, is held enchanted by the huge rocks sending into the skies their fantastic summits, if the thick forest enriched by the fragrant *Champa*, the shady *Jambu* loaded with luscious fruit, the tall *Pangarā* covered with a dazzling blossom, the delicious *Jasmine* and the delicate *Sriśha*, and made sonorous by endless varieties of the notes of birds charms the senses, if majestic nature subdues his heart by pleasing grandeur, on the way on entering these lovely edifices he is compelled to admit that art, Nature's daughter, has charms which are her own. No better description of these triumphs of art can be conceived than the following —

"The principal feature in each is the usual octagonal dome, forming a vestibule to the adytum, wherein the objects of worship are enshrined and around which is a columned peristyle, roofed with numerous domes. The whole edifice is of white marble and the sculptured ornaments with which every part of the surface is covered are so finely chiselled, as to suggest the idea that they have been moulded of wax, the semi-transparent edges almost realizing by their hardly perceptible thickness, the mathematician's definition of a line. The pendant which hangs from the centre of the dome of the temple of Tejpal is particularly remarkable, and rivets the attention of every visitor. As Colonel Tod justly remarks, 'the delineation of it defies the pen, and would tax to the utmost the pencil of the most patient artist and he is secure in asserting that no ornament of the most florid style of Gothic architecture can be compared with it in richness.' It appears like a cluster of the half-disclosed lotus, whose cups are so thin, so transparent and so accurately wrought, that it fixes the eye in admiration. The sculpture of these temples does not, however, confine itself to the representation of manumate natural objects, it exercises itself also upon the scenes of domestic life, the labours of navigation and commerce, and the struggles of the battle-field. And it may be safely asserted that the student of antiquities, who should devote sufficient attention to these bas-reliefs, would be amply repaid by a large increase of knowledge regarding many interesting points: in the manners and customs of mediæval India. — *Forbes Rasmala*

The present account of those great men to whose liberality India is indebted for these artistic structures is further interesting as being a contemporary record. Indeed if commemoration of events of the time had been the author's aim more

than showing his own skill in devising new modes of adulation and winning for his work the name of a Mahākāvya, the purposes of antiquarian inquiry would have been better served. As it is, the poem throws some light on the obscure period when the *Anahillatāda* house was superseded by the *Dhavalakkaka* house. But before making an analysis of the facts contained in the poem, it will be well to note what is known of the author and make some estimate of the merits of his writings.

II

The name of the author is *Someśvara*. It is mentioned at the end of each canto and also in the body of the poem. At the end of each canto it is mentioned that the poet was the family-priest of the king of the *Gārjaras*. In the beginning of the poem the poet says,¹ "*Sri Someśvara* delineates the character of *Vastupāla*, seeing that minister's devotion to himself (*Someśvara*, the author) is extreme, that his (the minister's) family is illustrious, his personal appearance splendid, his conduct excellent, his charity accompanied by courtesy, his elevated position such as humbles his foes, his talents such as defy those of *Bṛhaspati*, his mercy such as crushes all germ of fear, his fame an ornament of the earth, his administration regulated by justice." He further declares, in his own way, that it was genuine admiration of his hero that prompted the poem. He says, "in consequence of the excessive joy at finding a treasure of rubies in the excellent qualifications of the great minister, the muse of *Sri Someśvara* is impatient to sing" Further on² the poet mentions that he was the priest of *Lavaṇaprasāda* of *Dhavalakkaka*, a prince descended from one of the kings of *Anahillapura*.

I have met with several inscriptions composed by *Someśvara* two in the temple on Mount Abu, built by *Vastupāla*'s brother, are given in the Appendix. These are dated 1297 *Samvat* or 1341 A. D. There is a third at *Dabhoi*, in the territory of His Highness the *Gāyakhāda*, on one side of the gate called *Hirā Bhāgoja*. Greater part of it has become illegible. The stone on which it is inscribed is broken, and many lines are altogether effaced. It contains several found in the *Kīrīskammudī* and in one of the inscriptions on Mount Abu. The line in which the author's name is mentioned runs thus:—

क्रालिनिता सचंभूतमूलपुरोहितेन्द्रः ।
चरार सोमेश्वदेवनामा यामापनिपचमहाप्रियन्तः ।

It is dated 1311 *Samvat* (1255 A. D.) *Jyeshtha Sudi Budha Dine*, Wednesday the day of the moonlight fortnight of *Jyeshtha*. The inscriptions in *Vastupāla*'s temple on the *Satrūhājaya* hill are the composition of this poet. I have not seen them, but from the photographs which Dr. *Bähler* kindly showed to me, I find they are dated 1288 *Samvat* (1232 A. D.), the 10th day of the dark fortnight of *Phālguna*.

From this evidence it is clear that *Someśvara* was the family-priest of *Dhīmadra* of *Anahillatāda Pattana* and of *Lavaṇaprasāda* of *Dholka*, and that he was patronised by the two Jaina ministers, *Vastupāla* and *Tejhpāla*³ whom he entertained by his witty poems panegyrics. The *Chaturvīnśati Prabandh* of

¹ Page 5, Sta 45 to 49

² Page 16, St. 84

³ This work was written in 1905

Samvat, or 1349 A. D., at the instance of *Maharajah* at *Dabhoi* (*Dabhi* ?)

Rājasekhara contains several anecdotes regarding *Someśvara* and his patrons, the two ministers. It appears from one of the *Prabandhas* that there was great jealousy between *Someśvara* and the *Jaina* *Panditas* of his time. One of these *Harishara*¹ came to the court of *Vradhavalā*. By his wit and learning he gained the favour of the king as well as of the minister *Vastupāla*. This roused the jealousy of *Someśvara*, who never attended the court when *Harishara* was present. But once the king sent for *Someśvara*, and asked him to read before *Harishara* a poem consisting of one hundred and eight verses which he (*Someśvara*) had composed for being inscribed on a tablet in a new temple of *Vira Nariyana*, built by the king. *Harishara* heard the verses, and said they were good—he knew them. The king looked surprised, but *Harishara* immediately recited them word for word. *Someśvara* was overwhelmed with shame. When all left the court, he went to *Vastupāla* and assured him that the poem was really his own composition, and asked him how he could free himself from the unmerited disgrace. *Vastupāla* advised him to seek the friendship of *Harishara*. *Someśvara* was obliged to listen to the advice, and when he was thus humbled, *Harishara* one day went to the king's court and related how he had acquired by certain austerities the power of committing to memory, only by hearing once, any number of verses not exceeding one hundred and eight. He assured the king that the poem in question was an original composition of *Someśvara*. *Someśvara's* credit was re-established. The *Prabandha* goes on to say that *Harishara*, after some days, left the court, being disgusted with the jealousy of *Someśvara*.

It will appear from the sequel that *Someśvara's* influence at the court remained undiminished even after the accession of *Viśaldeva* to the throne of *Pattana*, and that he was able to prove the sincerity of his love to his patron by saving him from the effects of the displeasure of that young king.

I have been told that there is a commentary on *Kāvyaprakāśa* written by *Someśvara*, and also a life of *Kumara-pāla*. There is a copy of the first at Jessalmir, and one of the second in the celebrated *Bhāndāra* at *Pattana*. I tried hard to get at this book, but to no purpose.

As to the poetical merit of the present work, I humbly think that it does show that the author possessed to a certain extent 'the vision and the faculty divine.' It must be admitted that his taste was affected by the corrupt tendency of his age. His work is full of play upon words and all varieties of alliteration. But he employs these generally whenever he is writing on worn out and exhausted topics. Whenever he has got anything new to say, and he frequently has it, his expression is happy and full of feeling. The dream of *Vradhavalā*, containing the wail of the guardian deity of the kingdom of Gujarat for her past glory, is a splendid composition. It is translated into English by Dr *Buhler*—(See *Indian Antiquary*, page 189, volume VI, Part LXIX.) The descriptions of the morning and evening and of the seasons are also remarkable. Some of the reflexions on moral and political subjects are extremely well conceived. In describing the disinterestedness of his hero, he says, he (the minister) was not only free from the desire of appropriating the wealth of the people, but was even above the

¹ He is mentioned in *Kīrtikaumudī*. See page 3 (P. 4 in this edition) St. 25.

temptation of praise. Many an administrator, even at the present day, may well study the precept contained in this. In one place he expresses his wonder at the bewilderment of man who neglects his duty, though the inner soul bears direct testimony to its paramount claim by rejoicing when it is fulfilled. This is another mode of expressing the doctrine that conscience is the final ethical sanction or standard. His style is generally clear and felicitous, and—barring the puns—the writing may be regarded as one of good taste. One accustomed to read *Sanskṛita* poetry may not regard an hour or two spent in reading it as ill spent.

III

For those scholars who do not read *Sanskṛita*, I propose to give a short abstract of the contents of this poem. It opens with an invocation of the blessing of *Viṣṇu*, *Śiva* and *Pārvatī* and *Śiva* and *Viṣṇu* in incorporate forms, and lastly, *Sarasvatī*, the goddess of learning. Then, after making his obeisance to poets in general, the poet goes on to mention in particular *Vālmiki*, *Vyāsa*, *Kālidāsa*, *Māgha*, *Bhāravi* and *Bāna*, paying some graceful compliment to each. Then follow more modern and less generally known authors. They are *Dhanpāla*, *Bhīlana*, *Hemasārī*, *Nilakanṭha*, *Prahlādanandeva*, *Narachandra*, *Vijayasimha*, *Subhāṣa*, *Harihara*, *Yaśovīra* and *Vastupāla*. Next, a few verses are devoted to the praise of good men and to the deprecation of wicked men. Then the poet mentions that it was his sincere admiration of the virtues of *Vastupāla* and the kindness which that minister always showed to him, which prompted him to write the poem. Thus finishing his introduction, the poet enters upon the subject of his poem. *Anahilipura* is described as a large city protected by a fortification. It has extensive gardens. The palaces in it are large, and the bright terraces seem as if they were all silver. On all sides are heard *Vedas* repeated, joyful songs sung and praises chanted by bards. There is a large temple of *Mahādeva* in it. The population is not exclusively *Jaina*, for sacrificial smoke is described as going up to heaven. The river *Sarasvatī* runs by its side. The women in the city are beautiful, and adorn their persons with rich ornaments. The dust raised by prancing horses is put down by the rut flowing from the temples of elephants. The palaces are lofty like mountains, and their tops are adorned by flags. Beautiful women attract the hearts of young men, yet no irregularity follows, as the administration of justice is perfect. Near the town there is a large lake surrounded on all sides by temples, and having on one side a triumphal column of enormous height.¹

In giving an account of *Anahilipura* kings, the poet does not begin with *Vanarāja*, but begins with the accession of *Mālarāja* to the throne. The sovereignty of Gujarat is described as having offered herself of her free choice to *Mālarāja*. This means, I suppose, that he was not the direct heir to the throne, but came by it through the influence of some leading men from the state. Of his exploits, his defeat of the *Lātas* under the command of their general *Bāraṣa* and the seizure of his elephants and his fight with *Lakṣha*, called *Lākha-Pikulāsi*, are mentioned.²

His successor was *Chāmundaarāja*.³ His son *Vallaharāja*⁴ succeeded him. He

¹ The triumphal column is now gone. One can still see the site of the lake. The basin is all filled up, but the limits are visible. It seems to extend over several miles and presumably was used for agricultural and gardening purposes.

² *Vikṣāntam* of *Merrutunga* assigns to the

accession of *Mālarāja* the date 1017 *Samvat*

³ This name is omitted in *Vikṣāntam*

⁴ 1052

was so brave that he won for himself the name of *Jagatkampana*. The next king was his brother *Duriabharāja*,¹ whose hand never fell on the wives of other people, and never on the wealth of *Brāhmanas*. His successor was *Bhīmarāja*,² his nephew, who always kept an efficient check on the king of *Māltā*, but who spared his life though he had fallen into his hands. The crown descended after him to *Karna*,³ whose fame reached far. His son was the well known *Jayasinha*,⁴ who subdued all kings. He defeated, in a battle, *Khengāra* of *Soreth*, whose bravery knew no bounds. He reduced to subjection the king of *Sindh*.⁵ He conquered and again restored the kingdom of *Arnorāja*. The king of *Sākambhāri* saw that the enemies of *Jayasinha* atoned for their enmity with him, with their lives and yielded to his power. He defeated the *Paramāra* king and took *Naruarman*, the king of *Dhara*, a prisoner, and took possession of his city. The king of *Mahabaka*,⁶ taking a lesson from the fate of *Dhārā*, presented him with sums of money under the colour of his being a guest. His conquests extended in all directions. The *Gouḍa* country, celebrated for ghee, fell into his hands. He conquered *Barbhara*, the chief of Demons, and got the name *Siddharāja*.⁷ His successor was *Kumārāpāla*.⁸ His valour was as great as his accomplishments. He is described as relinquishing the wealth of the deceased, by which, very probably, is meant that he extended the right of succession to more indirect descendants than was allowed by the law then prevalent. Among the kings whom he conquered were the *Jangala* king, and the kings *Ballala* and *Mallikārjuna* of *Māltā* and the *Concan*. The fact of his having yielded to the influence of *Jainism* is described by the poet as his having made a vow, at the request of kings and beasts of the forest, not to take any life. His successor⁹ was *Ajayapāla*. He forcibly wrested from the *Jangala* king, as a punishment, a gold *Manjapitū*¹⁰ and his furious elephants. His return to *Hindu Orthodoxy* is described as his having given to *Brāhmanas* the earth after he purified by his weapons. He is described as daily marrying wives, daily giving gifts, and daily punishing kings. His son was *Mālarāja*,¹¹ who scattered the forces of the king of the *Turushkas*.¹² He was succeeded by his brother *Dhīma*.¹³ The kingdom of this simple king was divided amongst themselves, by his ministers and dependent kings. *Arnorāja*, a stion of another branch of the *Choudhukya*¹⁴ family, resented this act of spoliation, and began to establish the sovereignty of his house again. He fought bravely all his life, and killed in his attempt at re-organising the kingdom which was broken up. His son, *Lavanaprusidda*, is described by the poet as being his {poet's} contemporary. He conquered the king of *Nadula*. The king of *Dhārā* came to invade his dominions, but, finding him firm in his opposition, retraced his steps. *Singhana*, the king of the southern country, whose army was numerous but personal valour limited, avoided hostility with him, as his personal valour was great, though his army was small. His son, *Pradhavala*, was equal to

1 1066. 2 1078. 3 1120. 4 1150. 5 I am not sure [सिंधु] means the king of Sindh. It may be a proper name. 6 Madanavarma. 7 Those that keep in subjection evil spirits are called *Siddhas*. 8 1199-1122. 9 1199-1122. 10 *Manjapitū* is described as the grandson of *Shamada* through the male line. 11 1234. 12 *Dhīma*. 13 *Pradhavala*. 14 Probably what is now called *Andhra*.
 11 1234. 12 *Chand*. 13 *Chand*. 14 *Chand*.
 11 1234. 12 *Chand*. 13 *Chand*. 14 *Chand*.

Kathavate's introduction

him in valour and risked his life in battles most freely. One night *Lavanaprasāda* saw a strange dream in which he saw that the guardian deity of the kingdom of *Pattana* came and threw a garland around his neck. The king immediately sent for his son and his religious preceptor the poet and asked the latter what the dream meant. He explained to him that it was an offer made to him by providence of the sovereignty of Gujarat and that he should immediately set about to establish his sovereignty over the country, which was at that time divided by powerful men among themselves. As a preliminary step to this the king proposed to appoint some able minister to govern the country he had conquered. No sooner did this idea suggest itself of the king than he thought of the two able brothers *Vastupāla* and *Tejāpāla*. They were sent for immediately and when they came he explained to them how he wanted to re-establish the decaying power of *Pattana*. He extolled their honesty and their abilities and told them that a conqueror could never get peace of mind unless there be at the helm of administration really able and trustworthy men. He congratulated himself on having found two such able ministers and them to take up the responsible duties. *Vastupāla* then humbly expressed his joy at having been so fortunate as to be held in such high estimation by the king. He ventured however to state that hard times had come when bad counsellors led proud kings by dangerous ways till both came to grief. Further he stated that if the king would promise to be just and to control his passions and not to lend his ear to the insinuations of wicked persons if he would promise to rescue the kingdom from the oppression of the wicked then he would cheerfully obey his command. If he had other views in his mind the proud minister said he would bid him farewell. The king heard these words of the celebrated statesman and put into his hands the minister's seal.¹ The minister having taken charge of his duties went to *Slambhatirīha* modern *Ahambayat* pronounced by Europeans as *Cambay*. He redressed many of the wrongs committed by previous governors. During his administration low people gave up earning money by base means the wicked turned pale the righteous prospered. All honestly carried on their businesses in security. He put an end to piracy and stopped by constructing platforms the promiscuous mingling² of all castes in shops where whey of curds was sold. He was liberal in his gifts. Even those who had been long dead came under his obligation because he repaired the public works left behind by them. He planted groves of trees sunk wells and made public parks dug tanks built a city and erected innumerable other works of public utility. He made no difference of caste or creed but treated all subjects equally. While peace was thus reigning all over the kingdom *Singhana* the king of the *Dekkan* having heard of the prosperity of Gujarat ordered his army to make a depredatory excursion into the province. The whole of the population was seized by consternation. The king's army though small was strong and the father and the son *Lavanaprasāda* and *Vīradhātala* dauntlessly went forth and met the enemy when he had advanced as far as *Bīrsgukatchha* (*Bharucha* or *Broach*). While these two warriors were thus engaged four kings from Marwad seized the opportunity and advanced against them. Indeed the conduct of the father and

the son was critical with a powerful invader in the front, and a combination of four hostile kings in the rear, any other prince would have lost courage. To add to the embarrassment of his position, the kings of *Godraha* and *Lāta* allied themselves with the Marwad kings and seceded from the camp, and left these two to themselves. But *Viradhavala* and *Lavanaprasāda* were equal to the occasion. They pursued with great vigour, at first, the army of the *Yādus*, but, when harassed in the rear by the combined kings, they turned their forces against them. The southern army was so completely broken that it had not the courage to make any diversion again on the rear. While the king was thus engaged in a destructive war, *San̄kha*, the son of *Sindhurāja*, sent an emissary to the minister, *Vasupāla*. He extolled the bravery of *San̄kha* as shown in his contest with *Yādavas* though unfortunately *San̄kha* was taken prisoner in the contest. Further, he stated that the town of *Stambhapura* was, by right of descent, his, as his ancestors had formerly held it. He also held out to him the hope of being made a governor of the town if he surrendered it to *San̄kha*, and he ended by threatening him with an instant expedition. Though *Vasupāla*'s feelings of hope, fear and justice were thus appealed to, he remained firm. He refused to surrender the town, and pleaded his king's right of conquest against the hereditary title of *San̄kha*, and distinctly told him that he was quite ready to take the field if *San̄kha* should have the audacity to declare war.

This defiance of *Vasupāla* swelled the tide of *San̄kha*'s anger, and he at once advanced to the side of a tank called *Vatākupa* (*Vādūvo*). The minister defended with great bravery the town which he occupied. After some time the minister attacked the position of *San̄kha*, though his army was numerous. When the battle commenced, *Bhuvanapāla* of the *Gula* family, on the side of the minister, assailed *San̄kha*, who was also called *Sangrāmasinha*, but was himself attacked by *Sāmanta*, an ally of *San̄kha*. The two fought desperately, *Bhuvanapāla* slew *Sāmanta*, and proceeded against *San̄kha*. *San̄kha* cut off his head in a single fight. This sharpened the edge of the minister's anger. The fight now became general, and several warriors were killed on each side. At last *San̄kha*, finding the minister invulnerable, withdrew his shattered forces, and retired from the field. The minister led back his successful army, receiving congratulation of his subjects on the way. *Lavanaprasāda* too, with his valiant son, returned to his capital, having repelled the southern invader on one side, and the combined forces of neighbouring princes on the other.

In honour of this victory the citizens held a great festival to witness which and to make his obeisance to the goddess called *Ekallavirā*, whose shrine was outside the town, the minister passed the principal street in the town. The minister worshipped the goddess according to the proper ceremonies, and prayed to the goddess that she might always bless by her presence his own heart and his king's arm.

The poet now proceeds to describe the sufferings and pleasures of the hot season, and the way in which the minister passed it—a noticeable fact, in which connexion is that a great part of the minister's leisure was spent in the company of literary men, among whom probably the author held a prominent position. His gifts to these men are described as having been princely, and more than an adequate return for the pleasure which the men afforded to him. The poet next proceeds to describe the evening and moonlight. He employs the most fanciful

conceits in describing the pleasures of the citizens. Wine seems to have played a prominent part in helping the cause of Love. Giving for some time considerable freedom to his amorous muse, the poet winds up his account of revelry by a grand conceit describing the approach of dawn. As if to atone for the revelry of the previous canto, and by way of preparing the reader for his hero's pilgrimages, the poet introduces in the eighth canto a series of moral reflexions, which are very neatly and elegantly expressed. The canto concludes with a beautiful description of the beauties of autumn. The ninth and last canto is devoted to the description of the minister's visits to the holy shrines held in reverence by *Srīśākāśas*. One must keep before his mind's eye through how many different principalities of contending princes pilgrims had to pass, and how provinces were infested with marauding tribes, in order to be able to realize the importance which the poet attaches to the minister's having taken out with him a numerous band of fellow-pilgrims. In one of the *Prabandhas* the minister's retinue is described to have consisted of 4,500 carts, 700 palanquins, 700 carriages, 1,800 camels, 2,800 *Srīkarana*,¹ (?) 12,100 *Śvetāmbaras*, 1,100 *Digambaras*, 450 Jain singers, 3,300 bards. The author seems to have taken up for description, only two or three holy places visited by the minister. After mentioning generally that he made rich gifts to all shrines that he came across in his way, and made repairs and additions to temples, wells &c., where they were necessary, the poet proceeds to mention that he visited the shrine on the mountain of *Satrunjaya*. He commemorated his visit to the holy mountain by building two temples—one for *Neminātha*, and another for *Pārśvanātha*. In the hall of this temple were placed the images of his ancestors and friends, and equestrian statues of himself and his brothers. From *Satrunjaya* the minister proceeded to the mountain *Rairātaka*, where he offered the best incenses to the shrine of *Neminātha*, and having lived here for many days, he went to *Prabhāsa Pattana*, and then worshipped *Siva*, known by the name of *Somanātha*. He took leave of the shrine of the great *Jina* at this place, and returned to his own city (*Pañjāna*). When he arrived there, he first paid his respects to his king, and then went to his own house. Having thus completed his pilgrimage, he duly honoured the men who had accompanied him on his pilgrimage and sent them to their own places.

Here the poet's narration ends. It seems strange that the poet should have omitted to mention the famous temples on mount Abu. It cannot be said that the Abu temples were built later, that is, after the date of the poem; for the inscriptions in the temples on *Satrunjaya* bear the date 1288, *Samvat*, while those in the Abu temples are dated 1287 of the same era. The *Prāśasti* on these temples is composed by the author of this poem, and therefore the omission of the mention of the famous work from this panegyric seems the more strange. The only explanation that suggests itself to me is that the poet could make room for the description of one temple only, and he chose the *Satrunjaya* temple, because the one on Mount Abu was built in the name of the wife and son of *Tejahpāla*, and may, in one sense, be regarded as a special work of *Tejahpāla*. It appears that *Somesvara*, though a friend of both the brothers, was a special favourite of *Vastupāla*. That is the only reason I can assign for no mention of the Abu temple being made in this poem.

¹ May it mean a clerk?

how the minister could do such a thing *Someśvara* offered to go and speak to *Vastupāla*. The king consented. *Someśvara* called upon *Vastupāla*, and explained to him how his rash act had roused all the *Jethuās*. *Vastupāla* said he was prepared for the worst, and did not care for his life. *Someśvara* returned to the palace, and told *Viśala* that *Vastupāla* was prepared to die in defending himself. He represented to the king how it would be noble to overlook one fault of a man who had rendered such signal services to the state. He said that the minister's life was very valuable, and might be spared for some critical occasion. The king relented. He asked *Someśvara* to bring *Vastupāla* to the court. He came, but fully armed for fight. At his sight, the memory of all his obligations came to *Viśala*'s mind, and he humbly pacified his anger, behaving towards him with all the respect one would pay to his father. He strongly censured *Simha* for having struck a servant of the *Śrāvaka* temple, and threatened to punish him severely. Soon after this, the minister had an attack of fever. In 1287 *Samat*, when *Narachandrasūri* died, he had predicted that 1298 *Samat* would be the minister's last year. The year had come. The minister made up his mind to go to *Satrunjaya*. Before setting out on his last journey, he called the minister *Nugada*, and recommended the followers of the *Jaina* religion to his care. The *Brahmana* minister promised to pay all respect to *Steśimbaras*, and told the minister not to be anxious on that account. *Vastupāla* started to go to *Satrunjaya*, but became worse on the way, and died at the village of *Ankeśala*. *Tejahpāla* and *Jayanisimha*, the son of *Vastupāla*, performed the obseques on the *Satrunjaya* hill, and built a temple on the spot called *Stargarohanaprusada*.

V

The *Jaina* accounts of these ministers are naturally more detailed and faithful. There are some facts given therein to which a *Brahmana* admirer has naturally not given prominence. It is stated in those accounts that *Vastupāla* and his brothers were the fruit of the second marriage of their mother. The statement runs as follows - In the city of *Patana* *Haribhadrasūri*, a *Jaina* priest, while preaching once, constantly looked at a young widow who was exceedingly beautiful, and whose name was *Kumradeti*. One *Aśtaraja* remarked this, and, after the *Purnā* was over, asked him the reason. He replied that the widow was destined to be the mother of sons who would be like the sun and the moon of the *Jaina* religion. *Aśtaraja*, on hearing this, went to the father of the widow and entered his service. In time he succeeded in ingratiating himself in the favour of the widow and her father, and married her. The prophesy was fulfilled, and he became the father of *Vastupāla* and *Tejahpāla* and several other children. According to these accounts, when *Vastupāla* and *Tejahpāla* took up the ministerial duties, they made a condition that, at the termination of their office, they should be allowed to retire with all the property they possessed at the time when they entered upon their office. The impulse which led to the building of these temples is said to have been given by *Anupāma*, the wife of *Tejahpāla*. When the ministers found they had amassed a good deal of wealth, they began to think how they could keep it secure. Once while engaged in this deliberation, they did not notice that it was growing late, and that the time of the evening meal had nearly gone. *Anupāma*, after sending servants to remind them several times, came to them, and making them

leave their deliberation, asked them what they were thinking about. When they explained their difficulty to her, she told them that the best way to dispose of their wealth was to keep it on the top of mountains in such a way that every body could see it, but none could misappropriate it. She explained her meaning by stating that it should be devoted to the building of temples on mount *Abu*, *Satruñjaya* and *Girinār*. The ministers listened to her advice, and proceeded to execute the plan. The *Prabandhas* say that the work on mount *Abu* was progressing very slowly, and the ministers being-dissatisfied with the men in charge, went to see the state of things for themselves. When they found it was too cold for the workmen to go and work, at the recommendation of *Anupamā*, they ordered that each workman should have provided for him a fire to warm himself with while he working, and that ready dinner should be provided for all the operatives in the evening.

The way in which *Vastupāla* and *Tejahpāla* became possessed of funds where with to raise these superstructures is, by the *Jaina* chroniclers, described as follows.—When *Vastupāla* was appointed governor of *Stambhatirīha*, he found that a *Mohamedan* merchant, whose name was *Syed*, did not submit to his authority. He refused to see him and pay him homage, where upon *Vastupāla* declared hostilities with him. *Syed* called *Sankha* to his aid, *Vastupāla* defeated him in a battle, though his army was more numerous. *Syed* was apprehended and all his property was confiscated. When the victory and confiscation were reported to *Lavanaśrāsāda*, he ordered that all valuables should be credited to the account of the state. *Vastupāla* had reported that the merchant was so rich that even the dust in his house-गृहेषु (which probably meant trifling things) was of great worth. The prince assigned the 'dust' to *Vastupāla*. Shortly after this, some of the ships of *Syed* took fire, and, it is said, a large quantity of valuable metals was reduced to ऐषु dust, which, by the king's order, became the property of *Vastupāla*.

In *Vastupāla charita* of *Harshaganā*, it is mentioned that when they went to a place, in *Katharad*, called *Haḍḍalaka* to bury under-ground the wealth they had obtained, they found, when they dug into the earth, an immense treasure. Some say they applied this to the building of temples and other public works by the advice of their mother. Others say that while the brothers were once consulting as to what they should do with their money, they heard a *Jaina* ascetic recite the following verse:—

शौचं विद्यात् वृद्धेभ्य संभिलाक्षी, प्रीतिं वृष्टव नदय दिवसलसाले ।
दीपेन्दवे .निविष्टात्तद्वस्त्राणे, ध्यान्दीपे हा वनेप्यणि कः समीपम् ॥

1. The meaning of the verse is not very clear I understand it as follows—Oh lotus, since it is the daytime, favourable to you, open your bed and show love towards the bee that seeks your sweets, at night who will come near you when it will be dark, or when the rays of the moon will infect upon you severe pain.

Several words in this verse have a double meaning. In addition to the meaning assigned in the foregoing translation, शौच्य means a treasure. संभिलाक्षी means on the class of protectress. दीपेन्दवे, when an accusation is brought, निविष्टात्तद्वस्त्राणे may mean when the oppressor caused by the exactness of the king is great. Consequently, the verse suggests the idea that a man should open his treasure and be kind to the poor about him while his prosperity lasts. No one will come near him when he is in difficulty and harassed by the accusations and demands made by the king.

When they heard this verse, and revolved in their mind the double meaning it conveyed, they thought it was a providential warning expressly given to them and foreseeing the loss of royal favour, devoted their money to charitable purposes. It appears from the Prabandhas that *Vastupāla* associated very much with *Brāhman* Panditas. This brought on him the remonstrances of *Iṣayasenasāri*, their father's priest, which, being strongly supported by their mother, made them turn the current of their charity more towards the *Jaina* religion.

The society of learned Hindoo Panditas is described as having affected *Vastupāla*'s religious opinions to a very great extent. One of his *Jaina* biographers states that he had even put on the *Ananiadoraka* ¹ *Iṣayasenasāri*, who always used to complain of *Vastupāla*'s Hindoo tendencies to his mother pointed this out as a proof of his assertion. This brought matters to a crisis. At the bidding of his mother *Vastupāla* cut off the *Ananiadoraka* and began to abide strictly according to the advice of his hereditary religious teachers.

I shall briefly state here some of the important facts detailed in the *Chaturvintatiprabandha* with regard to *Vastupāla* and *Tejāhpāla* and their chiefs.

Soon after *Viradhavala* and his minister *Tejāhpāla* had commenced their victorious career they went to *Īmanasihal* to conquer the ruler of the place. The two young Rajputs, named *Sungana* and *Chamunda* the brothers of *Jayatalāra*, the wife of *Viradhavala* refused to submit *Jayatalāra* who knew the power of her husband, advised them to avert hostilities by making homage and rich presents to *Viradhavala* but the proud brothers would not listen. In the desperate fight which ensued *Viradhavala*'s life was in imminent and both armies raised the cry of his being killed but all of a sudden *Viradhavala* appeared mounted on his famous horse *Uparatata* and accompanied by the follower of his army proceeded personally against *Sungana* and *Chamunda*. The two brothers manfully met him and both were slain. The wealth for which *Īmanasihal* was celebrated the hoarded treasures of generations fell into the hands of the king.

Once three Rajputs *Samanīpāla*, *Anangapāla* and *Trilokasīnha* *Bhayuts* of the king of *Jabalpur* came and offered their services to *Viradhavala*. *Viradhavala* was pleased with their address and bravery, but on being told that their terms were a lack of coins (*Drumma*) of *Lānasapur* told them that a thousand warriors could be maintained by that sum and that he had no need for their services. *Vasūpāla* and *Tejāhpāla* requested the king to secure their services stating as their reason that men were more valuable than money but the king paid no attention to the advice and dismissed them. The offended Rajputs went to *Bhīmasīnha* the king of the sea coast town of *Bhadresvara* with whom *Viradhavala* had already declared war on his having refused to render submission. *Bhīmasīnha* at once accepted their terms and entertained their services. At their instigation he sent a fresh defiance to *Viradhavala* and appointed *Panchagrāma* as the place of the combat. The two ministers told the king that his enemy *Bhīmasīnha* had strengthened his hands by securing the services of the three Rajputs but assured

¹ *Ananiadoraka* is a silk cord knotted in a prescribed way with certain spells pronounced over it. It is supposed to represent god *Vishnu*. The day fixed for its worship is the fourteenth of *Bhādrapada*. The cord is kept on the arm by some during the whole year.

him, at the same-time, that they were still more than a match for *Bhīmasinha's* army, and that they should set out at once for the place appointed for the battle. On the night before the battle the three Rajaputs sent a word to *Viradhavala* that he should keep in readiness for his protection the numerous soldiers he had kept by the three lacks of coins which he had refused them. The king politely replied that the next day's fighting would decide the question. In the battle which ensued the three Rajaputs broke through all those that defended *Viradhavala*, and pointed their spears at his forehead, but spared his life in consideration of the *Vidā* they had eaten at his court. However, *Viradhavala* was thrown from his horse *Uparavala*, who was seized by the three Rajaputs. The fighting for the day ceased, but *Viradhavala* was none the worse for the casualties of the day. The ministers of *Bhīmasinha* advised him to make peace. *Bhīmasinha* sent back *Uparavala* to *Viradhavala*. Peace was made. By and by *Viradhavala* became more powerful, and having conquered *Bhīmasinha* destroyed his power.

There was a king named *Ghughula*, who reigned at *Godraha* in the district of *Mahitāsa*. He seized the goods of the merchants who came to trade with Gujarat. *Vastupala* and *Tejāhpala* sent messengers to remonstrate with him, and advised him to abide by the commands of *Viradhavala*. *Ghughula* in return sent a box of eyewash and a pair of women's clothes to him, to show that he regarded him, along with other kings, as no better than his mistresses. *Viradhavala* called together his chiefs, and asked if any one would offer to undertake an expedition against *Ghughula*. *Tejāhpala* alone offered to go. He went and stationed his army at a distance from *Godraha*. He detached a small number of soldiers to go into the proximity of the town and seize the cows of the cowherds. When the cowherds came to the town to complain of it, *Ghughula* went at the head of a small force to punish the offenders. The minister's soldiers feigning a flight, drew *Ghughula* towards the minister's army. *Ghughula* did not perceive the manoeuvre until he came face to face with the minister's army. Without losing courage, he sent a word to his chiefs to come to his succour, and commenced fighting at once. He succeeded in dispersing the minister's army, but *Tejāhpala* with seven Rajaputs determined to conquer or to die, and held fast. The example encouraged the worsted soldiers to return to the fight. *Tejāhpala* forced his way up to *Ghughula* and challenged him to a duel. The challenge was accepted. The minister threw *Ghughula* from his horse, and took him alive. He was confined in a wooden cage and sent to the king. All his wealth was seized. *Viradhavala* caused the box of eyewash, which *Ghughula* had sent to be tied around his neck with a string, and he was made to wear the pair of clothes he had sent. Unable to bear this disgrace *Ghughula* killed himself by biting off his tongue.

Chaturvīṅśatisprabandha says that the victory over *Ghughula* enabled *Vastupala* to extend the sway of *Viradhavala* to the borders of *Mādhyaśikha*.

The same *Prabandha* also mentions that *Vastupala* was directed to proceed against Sultan¹ *Moujān*². Being forewarned that the army of the Sultan was going to enter by side of the *Ahu*³ mountain, he directed *Dhāraśarsha*, the king of

1 This word is written *moj* and written as *Moujān*.

2 *Moujān* is *Palakamshak*.

3 The warning is said to be given by *Makapant*.

who owed allegiance to *Viradhavala*, to keep himself in a state of readiness He advised him to let the Mahomedans pass southwards, and then close the mountain passes against their return The plan succeeded The Mahomedans being attacked by *Vastupāla* in the front, and pressed by *Dhūrjarsa* in the rear, became panic-stricken The slaughter which ensued was great Cart-loads of their heads were sent to *Viradhavala* at *Dholka*

Some years after this the mother of *Moujadin* started on a pilgrimage to *Mecca* Having heard this news from his messengers, he ordered his sailors to take possession of all her property and bring the same to him This being done, the captain of the ships employed by *Moujadin*'s mother came and complained to *Vastupāla* that pirates had robbed the property of an old Mahomedan lady, their passenger On their stating further that she was the mother of *Moujadin*, *Vastupāla* received her with the greatest respect, and feigning to have caught the pirates restored the property to her He showed her every mark of respect, and provided most carefully for her comfort and safety On her way back to *Delhi*, she insisted upon *Vastupāla*'s accompanying her With the permission of *Viradhavala*, *Vastupāla* went to *Delhi* He was received there with great honour He obtained from the emperor a promise to keep friendship with *Viradhavala*, and, for himself, five large pieces of marble, of which he caused statues to be made to be placed in *Jama* temples On his return *Viradhavala* received him with great pomp and distinction *Merutunga* in his *Prabandhachintamani* says it was not *Moujadin*'s mother, but his religious preceptor who led to the formation of friendship between him and *Viradhavala* *Merutunga* further says that *Vastupāla* saved the emperor's preceptor from the violence of the father and the son, *Lavanaprasada* and *Viradhavala*, as a sheep from two foxes Such are the principal facts which may be gathered from *Jain* compositions

It seems clear from the account given in this book and several inscriptions of the time that *Lavanaprasada* and *Viradhavala* though they had cast *Bhimsadeva* into shade had not yet formally assumed the title of the kings of *Pattana*¹ As is often the case among the *Hindus*, those who actually attain high power by the strength of their arm rather take a pride in keeping formally their former status and rendering cheerfully, or even boastfully, submission to the hereditary monarch who has it no longer in his power to compel it by force It may well be illustrated by the attitude of the First *Maratha* conquerors towards the Emperor of *Delhi* and that of the *Peishwas* towards the *Maharājās* of *Sattara* The *Peishwa* held a grand *Durbar* at *Poona* for the assumption of the title which *Sindia* had obtained for him from the fallen emperor of *Delhi* and no *Peishwa* ever assumed authority without going through the form of obtaining the robes of state from *Sattara* However, those who succeed these great men by right of birth have not got for their satisfaction the true glory of personal achievements, and they become impatient of the acknowledgment of fictitious subordination By this time the old dynasty also has generally lost its hold on the affections of the people and a public assumption of sovereign power by the new line does not give much offence to any

¹ One of the *Prabandhas* says that *Vastupāla* proposed to *Viradhavala* that he should assume the title of *Maharāja*, but *Viradhavala* did not approve of it He said he was contented with his title of *Kṣapala*

one Thus, it would appear that *Visaladeva* put his foot on the step from which *Lavanaprasada* and *Viradhavala* kept themselves back half out of chivalry and half out of policy In the grant of *Visaladeva* the title *Maharajadhiraja* is applied to him though up to his time the kings of the house of *Pattana* alone were considered as entitled to it The last mention I have found of the king of *Pattana* is in connection with *Lavanaprasada* s having asked for money in a friendly manner from *Bhmadeva* There is no mention anywhere of any actual hostility between the house of *Dholka* and *Pattana* *Bhmadeva*, though personally valiant, seems to have allowed himself quietly to be superseded by his ambitious kinsmen first in actual power and then in rank

VI

In concluding this introduction it remains for me to acknowledge that the publication of this book is entirely due to Doctor G Buhler He lent me two manuscripts one A, a copy of some old manuscript made for him, and another B, which he had borrowed from Mr Javerlal Umaśankara He also handed over to me a portion of the poem copied out by him for the press and obtained the permission of the Director of Public Instruction for the inclusion of this Publication in the Bombay Sanskrit Series Besides, I am indebted to him for pointing out most of the sources of information which I have embodied in these pages In fact but for him I should not have been able to do the little I have done For the third manuscript I got later on, I am indebted to Mr Vrajlal Shashtri of the Gujarat Vernacular Society All the three manuscripts seem to be copies of the same original manuscript the differences they show being generally due to the varying intelligence or rather ignorance of the copyists

Professor G. BÜHLER's critical study
of
THE SUKRITASAMKIRTANA OF ARISIMHA

(TRANSLATED FROM THE GERMAN OF THE LATE PROFESSOR G. BÜHLER, C.I.E., LL.D., VIENNA BY E. H. BURGESS, UNDER THE DIRECTION OF JAS. BURGESS, C.I.E., LL.D.)

Published in the INDIAN ANTYQUARY, Vol. XXXI (1902) (Pp. 477-495)

[The paper, of which the following is a translation, appeared in the *Sitzungsberichte* of the Imperial Academy of Sciences of Vienna (Vol. CXIX., 1889), and some copies of it were struck off in a separate form, chiefly for distribution to friends. There are many scholars, both in Europe and India, who are interested in the subject of the paper but are not familiar with the German language, to them the following translation is offered in order to make its contents accessible.—J.B.]

In my *Report on the Search for Sanskrit MSS.*, 1879-80, p. 5, I announced the discovery of a *historical poem* which bears the title *Sukritasamkirtana*, and was composed by *Arisimha* in honour of his patron, the Jaina *Vastupāla*, who served the *Vāghelā* prince *Rāmaka-Vīradhavaia of Dholkī* and his son *Vīśaladeva* as minister from *Vikrama-Samvat 1276 to 1296 or 1297*. Although since then, by the publication of *Someśvara's Kirtikaumudi*, the most important source concerning the origin of the power of the *Vāghelā* dynasty of Gujārāt, has become generally accessible, yet a discussion of the contents of *Arisimha's* poem will not be superfluous. For this touches on several details about which *Someśvara* is silent, and gives new and in part valuable accounts of other incidents. The manuscript which I have used for the following examination is No. 302 of my collection in the library of the India Office. This was copied in August 1880 from the same original in Ahmadābād from which No. 415 of the Dekhan College Collection of 1879-80 was taken; and it was then carefully collated with No. 411 of the Dekhan College Collection of 1880-81. It is therefore, — with the exception of the confusion between the sibilants, between *a* and *ś*, *ra* and *ṛ*, as well as *ta* and *tha*, — pretty free from errors, and text is almost throughout easily intelligible.

THE CHARACTER AND ARRANGEMENT OF THE WORK

The *Sukritasamkirtana* is, as the inscription of each canto intimates, a *Mahā-kāvya* or artistic poem, composed according to the rules of prosody, and it contains 11 Sargas with 553 verses. Five verses at the end of each Sarga are due not to *Arisimha* but to *Amarapandita*. It says, I. 46- "In this work which *Arisimha* composed, *Amarapandita* wrote these four last verses canto by canto."† The number

† The German original is accompanied by the Sanskrit text of the passages that are translated in this paper.

refers to the preceding four verses 42-45 and the fifth which is repeated at the end of each Sarga is not reckoned. These verses have no close connection with the contents of the preceding parts. The first three either contain general praises and blessings upon Vastupala or mention incidents not described by Arisimha. The fourth always names Arisimha as the author of the work and praises his poetic skill.

The titles of the separate cantos are as follows

I — *Chapotkalamyavarnana* Description of the Chapotkafa dynasty (of Gujarat), 46 verses principal metre Vasantatilaka

II — *Chaulukyavayavarnana* Description of the Chaulukya dynasty (of Gujarat) 56 verses principal metre Upajati

III — *Mantrisprakāśa* Appearance of the ministers, 67 verses principal metre Anuṣṭubh

IV — *Dharmopadeśana* Instruction in the holy law, 49 verses principal metre Rathodhdhata

V — *Samghaṣraṣihana* Departure of the (Jaina) congregation 55 verses principal metre Vamśastha

VI — *Suryodayavarnana* Description of the sunrise 40 verses principal metre Malini

VII — *Satruṃjayadarśana* Visit to Śatruṃjaya 48 verses principal metre Svagata

VIII — *Srī Nemśdarśana* Visit to (the shrine of) the divine Nemmatha 48 verses principal metre Pramtakshara

IX — *Shadṣṭi varnana* Description of the six seasons of the year 56 verses principal metre Drutavilambita

X — *Purapraveśa* Entrance into the town (Dholkā) 47 verses the metres vary every two verses or still more frequently

XI — Enumeration of Vastupala's buildings 41 verses principal metre Vasantatilaka

Besides the metres already mentioned the following also occur in single verses: Ārya, Indravajra, Upendravajra, Pushpitagra, Manjubhashini, Mandakranta, Śardula, vikṛdita, Śikharini and Sragdhara. Amarapandita usually begins his first verse in the metre with which Arisimha ceases. In spite of the pains both poets have taken with the versification it often happens that the first and third foot of a verse stop in the middle of a simple word. And although the really distinguished poets often use the weak caesura by ending the first *paśas* of a half verse with one part of a compound yet they avoid dividing simple words. This abuse first occurs in later poetasters. The more difficult feats of art like *Pratīlomānūloma*, *Gomutrika* etc. neither Arisimha nor Amarapandita has tried. On the other hand there are numerous *anuprasas* or alliterations and — although more seldom — even *yamakas* or rhymes. As for the diction one easily perceives the zealous striving to vary the turnings of the classical models and to find new expressions or figures. The result is not a brilliant one however and the *Sukritasamkīrtana* nowhere rises above the level of the mediocre. At some points one may doubt whether the

He answered 'Om' Then the king said 'Recite something suitable to the occasion'. Thereupon Arisimha recited four verses in which he praised Visaladeva's sword. The prince was so charmed that he bestowed a permanent appointment and a high salary upon the poet. Soon afterwards the salary was doubled because he sang in a masterly manner of a blade of grass which the king held in his hand.

Like the records of most of the *Prabandhas*, this one also contains, besides what is undoubtedly correct, much that is not so. In the first place it is true that Amarachandra wrote a work called *Padmānanda*. Peterson found it and bought it for the Bombay Government (see *First Report*, p. 125, No. 205). From the extracts given there from the Cambay Library MS., it appears that it bears also the title *Jñānāchārīta* and is a *Mahākāvya* containing 12 Sargas (cf. also Peterson, *loc. cit.* p. 58).

The statement, then, that *Arisimha* was the teacher of *Amarachandra* in the fine arts agrees with the contents of the above second verse of the *Kavyakālpata*. The reverential way in which Amarachandra expresses himself in his verses about Arisimha speaks for the same thing.

I 45 — "Arisimha, a lion for his elephant-like opponents composed this work, which like the glances of the ever-gracious Vastupala, dispenses rivers of nectar."

VIII 48 — "This work, a flood of beams from the moon of the face of Lavanyasimha's son, which draws off the swarms of bees from these waterlilies, the faces of the unworthy, produces, mighty waves in the milk-ocean of fame of the excellent minister and prince Vastupala."

Only a pupil speaking of his teacher, or a client of his patron, would express himself thus.

On the other hand, the *Prabandha* is incorrect in stating that Amarapandita and, through him, Arisimha came to the court of Dhnikā only during the reign of Visaladeva, circa Vikrama-Samvat 1295 to 1318. For soon after Visaladeva's accession Vastupala lost his high position and died as Narachandra had prophesied, in the Vikrama year 1293.² From the *Sukritasamkirtana* it is apparent, however, that it was written when the minister was in the zenith of his power. This is proved, for instance, by two verses at the end of the first and second cantos —

I 42 — "Daily, illustrious prince of the council Vastupala the Brahmanas cry blessings on you. "Long may you live!" — the bard princes "May you attain the age of Brahma!" — and noble women "May you never grow old and be immortal!" But I will also say something: "May you rejoice in your life as long as your far-reaching fame dances in the sky."

II 52 — "Heavenly (wishing) cow, (paradise) trees, (wish-fulfilling) precious stones! Why hide ye yourselves in the tottering rocks of the divine mountain

1 The swarms of bees are the admirers who formerly hung upon the lips of the bad poets but now turn to Arisimha.

2 *Kirīṭānamudrā* pp. xvii-xix *prabandhaśeṣa* p. 288 — *Śrī Vastupāle jayārṅgīteṇa pōjī-lāṭejaśhīlām śrutapāpūtrāth svapūtrām cha jyan lāsīmābhāśakā*

Vaisāk Śrī Narachandrasūribhīrmāladhārībhīḥ 1987 varṣe Bhādrapada Das 10 aine dīva gomanasamaye rajamuktāḥ

Mānirām 1268 saṅgāroḥapam bhavichyāḥ 1

(Meru)? Adorn the earth, nobody demands you! May the illustrious minister Vastupāla alone live for ever!"

It is hence certain that both poets stood in close relation to the minister who served Visaladeva's father, and their connection with him, according to the last verse, is scarcely doubtful. For when an Indian poet praises the generosity of his hero in the above manner, it is a certain sign that he has either experienced the same or hopes to do so. There are, however, a number of other passages which make it still clearer that Amarachandra and probably also Arisimha belonged to Vastupāla's suite of poets which the *Prabandhas* often mention. The next verse, II 54, ought to suffice to convince the most incredulous. It says—"Poverty has resignedly deserted so completely those men who continually rejoice in praising Vastupāla that she, indolent in spite of the command of the gods, does not even cross the threshold of their neighbours' houses." That is to say, in simple prose, that the singer and other poets were well paid by *Vastupāla*. If one must accept from this that Rājasekhara places the prime of Amarachandra and Arisimha too late,¹ it need not therefore be concluded that they had no connection with *Visaladeva*. It is very possible that they kept themselves in favour at the Court of Dhulka after Viradhavala's death and the fall of Vastupāla.

As the exact date of composition of the poem we need not be content to ascribe it merely in general to the period of Vikrama-Samvat 1276-1290 or 1297, during which Vastupāla occupied his high position. It will be seen later, from the comparison of his statements concerning Vastupāla's buildings with the inscriptions, that it was probably written about the Vikrama year 1285. It is probably some years younger than the *Kirtikaumudī*. The *Sukritasamkirtana* seems never to have found much esteem even with the Jains. Neither Rājasekhara in the *Prabandhakosha*, nor Jinaharsha in the *Vastupalacharita*, quotes it, although the latter gives long extracts from older sources. Both follow Someśvara's *Kirtikaumudī*, the greater fame of which put the poem of the less distinguished Arisimha in the shade. Its author Arisimha is perhaps mentioned in Śārngadhara's *Padāhātī*, where a verse of a certain *Arasi-Thakkura* No. 76 (Peterson's edition), is mentioned. Arasi stands for Arisimha, and is a quite correct Prakrit form of Arisimha (see *Ueber das Natasāhasānākhacharita* p. 39), which is still frequently used in Gujarāt. The identity of the two persons is, of course, by no means proved by the similarity of their names but is only a possibility.

NOTES ON THE HISTORY OF THE CHAUDAS AND CHAULUKYAS

The first Sarga, which contains the genealogy of the Chāpoṭkātā or Chaudā kings, gives the following names -

	verses	
I — Vanarāja	1-26	
II — Yogarāja	27-28	...
III — Ratnāditya	29-30	...
IV — Arisimha	31-32	
V — Ashemarāja	33-34	
VI — Chāmunda	35-36	...

¹ As a further proof of this it may be mentioned that the Cambay MS of the *Indrinanda-Ahijya* was written in the Vikrama year 1297.

VII — <i>Rahada</i>	.. Verses	37-38
VIII — <i>Bhābhata</i>	..	39-41

The verses dedicated to these kings contain almost nothing but conventional flatteries in which no historical events are mentioned. *Vanaraja* and *Bhābhata* are the only exceptions. As regards the first, it is mentioned in verse 9 that he founded the city of *Anahlaṣṭāka* or Anhilvad, and verse 10 that he built there the temple of *Pañchāsara-Pārsvanatha*. Both statements are found in most of the later Jaina *Prabandhas*, and are therefore of no special interest. On the other hand, the statement, verse 41, that *Bhābhata* ruled the earth long, is of some significance and also the arrangement and number of the Chāudā kings. For both entirely disagree with the statements in Kṛishnāji's *Katvamāla*, in some MSS of Merutunga's *Prabandhachintāmanī*,¹ and in later works, like Jimamandana's *Kumarapālacharita*, Jinaharsha's *Vastupālacharita*, and Dharmasagara's *Pravachanaparīkshā*.

All these works recognise only seven instead of eight Chāudā kings, whose succession differs from the above, and they ascribe to the last a reign of only seven years. On the other hand our list is almost identical with that contained in Merutunga's *Theravāli*,² and in the Bombay edition of the *Prabandhachintāmanī*, pp. 35-38.³ In the *Theravāli* there are differences only with regard to the names of the seventh and eighth kings. The former is called not *Rāhula*, but *Thaghada* or *Ghāghada* and the latter not *Bhubhata* but *Puada*. *Puada* is doubtless a clerical error for *Bhūyada* or *Bbuvada* which is the usual Apabhramśa form for *Bhubhaṭa* in the *Prabandhas*. Instead of *Thaghada* or *Ghāghada*, *Rāghada* is to be read, which may be the same as *Rahada* if the original form of the name be *Raghavabhaṭa*.⁴ The edition of the *Prabandhachintāmanī* has the form *Akada*, which differs still more strongly. On the other hand it gives for *Bhubhaṭa* the form *Bhūyada*,⁵ which one expects.

The reign of this last prince extended to 19 years according to the *Theravāli*, whilst the *Prabandhachintāmanī* edition gives even 27. The latter number would, of course, agree best with the expression *chiram*, 'long'. In comparison with the apparently more authentic traditions of Kṛishnāji (which moreover, have been printed from bad MSS) the statements of the *Theravāli* have hitherto received no consideration. The narrative of the seven Chāudā kings the last of whom is said to have been murdered after a seven years' reign by *Mālaraja*, his sister's

1 Thus No. 296 of my collection and Bhāu Dāji's MSS. Jour. Bo. Er. R. A. Soc. Vol. IX p. 157.

2 See Jour. Bo. Er. R. A. Soc. loc. cit.

3 The passage is in parenthesis in the edition. Also the narrative which follows in the text shows that the MS which forms the groundwork differs considerably from the other known ones.

4 It is quite possible to find for the seventh Chāudā king in the *Sukritasamkirtana* a name which comes very near the *Akada* given in the published edition of the *Prabandhachintāmanī*. We can divide I 37 *prabandhatrayajalāḥ śaśāhastirāhur akada it* by which means the form *Akada* is obtained. This much may be said for this division that we gain thereby a construction exactly corresponding to that in verses 27, 31, 35 etc. and also that the word *Akada* which might stand for the Sanskrit *Ābhavabhata* (compare *Āhavamāla*) would be quite a suitable epithet for a king. Nevertheless I hold it probable that the name was *Rahada* for I do not believe that the poet would have lighted upon the alliteration *śaśāhastirāhur* if the name had not begun with *rā*. Then the certainly corrupt forms *Thaghada* and *Ghāghada* tend to prove that the initial was a consonant.

5 Or *Bhūyagaḍa*.

son and of the Chaulukya prince *Rājī* is unhesitatingly accepted though it contains the absurdity of *Rājī*'s marriage having taken place and his son having grown up within these seven years¹ It is plain from Arisūha's statements that the *Tiericals* does not stand alone in its representations but rests upon older traditions Since *Krishnāji's Ratnamālā* is perhaps as old as the *Sukṛtiasamkīrtana* the two contradictory accounts of the Chāṣṣṣī kings existed at least in the thirteenth century and probably earlier still It must be left to the future to establish their real history when authentic documents are found For the present we must be content with the conclusion that the version current in India through Forbes's *Rās Malā* has no particular claim to be received and was not uncontested in the tradition

The notes about the *Chaulukya* kings in *Sarga II* are considerably fuller Of the first king *Mularāja* it is related that he particularly venerated *Somanatha* and it is said verse 3 Which hero (*Mularāja*) plainly proving his veneration prostrated himself every Monday before *Somanatha* and obtained great splendour and fame from the hot flames out of the eye on the forehead of that god

Possibly *Arisūha* knew the absurd legend of the *Prabandhachin'aman* p 43 according to which *Mularāja* made a pilgrimage every Monday to *Somanathapattana* near *Veraval* until the god to please the king settled first nearer *Anhilvad* in *Mandali* or *Mandal* and at last came even into the capital *Mularāja*'s worship of *Siva* is proved besides by his presentation of land The following verse 4 seems to refer to the erection of the *Tripurushaprasada* in *Anhilvad* From among the military undertakings of *Mularāja* the victories over *Barapa* and *Lakṣa* king of *Kachh* are mentioned The former is made a general of the king of *Kanyakubja* Of the next king *Chamunda* vv 8-9 *Arisūha* has nothing positive to say On the other hand a victory of *Vallabharāja* over the king of *Malva* is celebrated in verse 13 and in verse 14 the remark is made that *Vallabha* had the *virūda* of *Jagajjhaṃpana* which does not occur elsewhere The *Kirtikaumudī* which also mentions the probably apocryphal victory II 11 gives him the *virūda* of *Jagatkampana* It says of *Durlabharāja* vv 15-16 that he was very modest and was ashamed when his court poets compared him to *Krishna* In the *Kirtikaumudī* also *Durlabha* is praised for this virtue Of his successor *Bhīma I* we are told only that he conquered the celebrated king *Bhoja* of *Dharā* This statement agrees again with that of the *Kirtikaumudī* II 11-1b and also with those of the later *Prabandhas* whilst it does not occur in *Hemachandra's Dvāśrya* *Bhīma*'s son *Karna* vv 20-23 is praised for his beauty mentioned also by *Hemachandra* in the *Prasasti* to his *Grammar* verse 17 in the *Rainamala* and in the *Kirtikaumudī* II 21 Then *Arisūha* states that *Karna* conquered the king of *Malva* and brought home from there a statue of *Nilakantha* or *Siva* It says verse 23 Who (*Karna*) conquered the king of *Malva* with his army and truly brought with him *Nilakantha* the fame of him for whom the number of paths through the river on the head of this god was multiplied he extended in the three worlds

Most *Prabandhas* and even *Hemachandra's Dvāśrya* mention no kings during *Karna's* reign The latest discoveries however shew that this silence is by no means justified *Bhāna's* drama *Karnasindari* which was found by *Pandit*

¹ I first drew attention to this atrocious nonsense in the *Indian Antiquary* Vol VI pp 181-182

Durgaprasad and published in the Bombay *Kanyamala* speaks of a fortunate war with the Muhammadan princes of Sindh and Ghazani. Since Bilhana was in Anhilvad during Karna's reign, and probably made an unsuccessful attempt to become the court poet of that king, his statement deserves credit. Then Someśvara Arisimha's contemporary, narrates in the *Surathotsava*,¹ found by Dr Bhandarkar that his ancestor *Ana*, house-priest of King Karna, compelled an evil spirit (*ḥṛīya*) raised by the house-priest of the king of Dhara to kill its originator. The reason why the Paramara prince's priest sought to destroy the Chaulukya ruler was that the latter had invaded the dominion of Malva. Someśvara then without hesitation confirms Arisimha's assertion and we may accept it as a fact that the feud between Malvā and Gujarat did not rest during Karna's reign.

Of *Jayasimha*'s deeds it is related vv 23-38 that his cavalry bathed their horses in the Ganges (v 32), that the 'air walker *Barabaraka* carried him about in the atmosphere (v 33) that he took prisoner *Yaśovarma*, king of Dhara (v 34) that he had the tank called *Sādhasaras* dug (v 35) and a high pillar of victory (*hṛīstambha*) built (v 37). All these points are sufficiently known. It is only of interest that *Barabaraka* has here, as also in most of the other *Prabandhas* become a purely mythical being. Verse 36 speaks of *Jayasimha*'s worship of his mother, and alludes indeed to the narrative (*Prabandhachintamani*, p 133) according to which the king at the request of *Mayanalladevi* remitted a tax imposed on pilgrims going to *Somanathapattana* by the officials at *Banuloḍa*.

Verses 39-43 referring to *Kumarapala* first praise the favouring of the Jaina religion by this king who abolished the confiscation of the goods of tradesmen dying without male heirs and caused *Vīlars* to be built in every city.² Then his victories over the *Jangaleśa* i.e. *Arnoraja* of *Sakambhari* or *Sambhar* and over the *Kaunkana* emperor i.e. the Kadamba king *Mallikarjuna* who ruled over the *Konkan* (*Kirtikaumudī* II 47-48) are celebrated. With respect to the latter, Arisimha gives a note which contradicts Someśvara's reports but shows on the other hand that the representation of the later *Prabandhachintamani* is correct. It says verse 43. What is wonderful in this strong one's (*Kumarapala*'s) conquering even the *Jangala* princes seeing the ruler of the marshland the *Kaunkana* emperor, was defeated by his very tradesman (*banij*)?

Someśvara in the *Kaumudī* ascribes both victories to the king himself in the *Prāśasti* of *Tejhapala*'s temple at Abu (vv 35-36) on the other hand the first is ascribed to the Paramara *Yaśodhava* and the second to his son *Dharavarsha*. *Merutunga* on the other hand records in the *Prabandhachintamani* p 201 ff that the Śrīmālī Vama Amrabhata son of the counsellor *Udayana*³ advanced twice against the king of the *Konkan*. At first he suffered defeat but in the second campaign he is said to have slain *Mallikarjuna*.

Kumarapala's successor is called in verse 44 *Ajayadeva* instead of *Ajayapala*. This form of the name is also found elsewhere (see *Ueber das Leben des J. M. Hemachandra* S 55 note 6). Like all *Prabandhas* the *Sukritasamkirtana* mentions

1 Report on the *Seana* etc 1883-84 p 20

2 See Böhler *Ueber das Leben des J. M. Hemachandra* Ss 39-40

3 See *Ueber das Leben des J. M. Hemachandra* S 9 and note 28

with praise that the king sent him as a tribute from *Sapādālaksha* in Eastern Rājputana a golden *marīāpika* i. e. a little ornament in the form of a *manāpa* or pillared hall. Not less known is the victory which (v. 46) Ajayadevas son *Malarāja* II gained over the Turushkas i. e. over *Muhammad Spalāshādīn Ghori*. The Muhammadan authors (see Elliot History Vol II p. 244) confirm this information which is found also in the *Prithī irājavarjaya* (*Kashmir Report* pp. 62-63).

Much more important is that part of the work (Sarga II 48-57 Sarga III, 1-62) which follows next relating to *Bhimadeva* II representing his relation to *Latanaprasada* and his son *Viradhatala* the Rana of Dholka and stating how *Vasudhala* became minister to the latter. Arisimba gives an account here which differs markedly from Somesvara's narrative in the *Kirtikāsmudī*. It will therefore be as well to give the most important verses of this part word for word.

II 48 Now his (Malaraja's) brother, the illustrious *Bhimadeva* whose invincible terrible arm like the post of a gate destroyed all his enemies wears amulet of the sphere for which the shores of the ocean furnish the pearls.

49 His whole life long he held fast to the reflection: This seat of the gods (Mount Meru) ought not to disappear through my liberality which lasts but for a moment and so he abstained from uprooting the golden mountain (Meru) in order to distribute gifts of gold.

II 50 That beggars always experienced his liberality we hear from the songs of the pleasure-seekers (nymphs) who settled in the neighbourhood of his palace on the gold mountains terraced for pleasure in the belief that these were spurs of Mount Meru.

51 *Bhīma* the husband of the earth whose entire riches had disappeared through continual and too liberal gifts whose brilliant glory had departed whose kingdom was bit by bit violently devoured by the barons — ate his inmost heart out in long accumulated cares.

III 1 All at once the prince whose whole possessions had become small saw in a dream at the end of the night a glorious and splendid god.

12 Thereupon the god poured upon the lord of the earth who was as it were the root of the creeper of his love the nectar waves of his eloquence as follows —

13 I thy grandfather's king *Kumarapala* who have won the bliss of heaven through the laws of Arhat am come because I love thee in thy misfortune.

14 So I will give thee a proud governor of the kingdom through which thou obtunest great glory as fire does by wind.

15 The great armed Arnoraja son of the illustrious *Dhavalā* was an elephant in the forest of the *Chāulukya* stem an eagle for the serpents his enemies.

16 This man of adventurous spirit who was the cause of my glory was made by me whose heart he won by his courage lord of the city of *Bhīmahalla*.

I If *Kumarapāla* calls himself *Bhīma's* grandfather the expression as is often the case with the adoption of grades of relationship is very likely only indefinitely used. For *Kumarapāla* was according to all the *Prabandhas* the great-uncle of *Bhīma* whose grandfather's name was *Mahipāla*. (see Forbes's *Rās Mānd* p. 151)

19 "When evil councillors opposed thee, this strong one made thy accession the means of repaying my favour for ever

20 "His son is *Lātanyaprasāda*, whose arm, brandishing the sword — one would think it was his tongue — prepares to destroy his enemies in fight "

23 "If thou make this ornament of the sphere lord of all (*sarīśvara*) thou wilt become the husband of Fortuna and rest in happiness like Vishnu in the Ocean

24 "He has a son *Vīradha-ala*, who for the sake of the battle wishes to perform again the oath of the descendant of Dhṛiṣṭu (*Paraśurama*) to destroy the Kshatriya-race "

27 "Give this strong-armed one, whose shining toe-nails have become jewels on the heads of hostile kings, the rank of heir to the throne (*yāntarāja*), and thyself wilt rule yet a long time

28 "Still more! save thou the Jain faith which helped me to attain unhindered to the fields of heaven, and which now almost sinks into the Kali-(period) "

29 "When the king heard this, he embraced smiling the lotus-feet (of the god) as if he wished to hold in his hands the Fortuna that lives in the water-lilies

30 Honouring him graciously, the god, lovingly attached to him, laid his hand which resembled the Lotus, the house of the Kamali, on his head

31 "When in the morning the sound of the trumpet announced the sunrise to the ruler of the world, sleep, which closed his lotus-eyes, departed, like the night which closes the eye-like water-lilies

32 "When the prince saw with astonished gaze the light of the lamps, (he said) 'There is indeed visibly a god!' and then quickly he left his bed

33 "Then the husband of the earth who had accomplished the duties of the morning, visited his hall, whose thick buttresses of jewels streamed forth rich splendour,

35 "The ruler caught sight of the devoted barons among the company, shining like sparks of their courage

36 "The father and the son whom the god pointed out, the king anointed lords over all, with his eyes which were like nectar-jars

III 37 "Thereupon the king directed joyfully this gracious speech before the nobles to *Lātanyaprasāda* -

38 "Through thy father, the terror of his enemies I was set up (as king) in this kingdom do thou therefore increase my diminishing prosperity

39 "Accept from me, thou great in war, the rank of a lord over all, *Vīradhavalā*, who shines in virtue shall be my successor "

40 "Thus requested by the king, himself worthy to be entreated in a matter in which they ought to have been the suppliants, the two spake joyfully "Your Majesty's command is law to us"

41 "Laying his hollow hands together as if he fell in them the uttering bitterly (Fortuna), *Vīradhavalā* turned again towards the husband of the earth (and said) -

42 "Master, I am in need of an adviser without one, the brave lion springs at the thunder-cloud, taking it for an elephant and suffers a great fall

43 "Give me such a counsellor, distinguished by extraordinary virtues, acquainted with the use of weapons, with books, with the acquisition of wealth and with battle "

44 Greatly delighted by this speech which was like a stream of nectar poured out to invigorate the liana — (creeper) of his happiness, the master of the world thought a little and then said

45 "Once upon a time was *Chandapa*, fiery in his splendour, a branch of the ever-fresh liana of fame of the distinguished *Prāgāda* lineage, a servant (of the king) in this realm

47 "His son, named *Chandaprasada*, was furnished with skill and affability,...

48 "To him was born a son named *Soma*, who flooded the firmament with his glory.

50 "Who had no master but king *Siddha* and no god but the lord of the Jinās

51 "His descendant *Aśtarāja* made the universe splendid with his glory he who accomplished seven pilgrimages to escape the seven hells

53 "His beloved wife was *Kumāradevi*, who, though the first among the Jina-believing (women), worshipped the husband of Gauri

54 "To these two were born three sons, whose power made their enemies tremble ...

55 "First among them, *Malladeva* is famous a treasury of wisdom he who obtained autocracy in his kingdom by the will of his preceptor

56 "His younger brother is the wise *Vastupāla*, a dwelling-place of the fine arts, whose feet the later-born *Tejahpala* daily worships

57 "These two like wands to whirl about the ocean of deeds, like paths leading to conjunction with Fortuna I will give you for counsellors but they protect their friends "

58 As *Viradhavala* rejoiced at this speech, the husband of the earth called to these two sons of one mother who bowed their heads, (and said) -

59 "May you who alone have crossed the ocean of state affairs, be clothed with the dignity of counsellors of the great *Viradhavala*

60 "His courage will attain to sight if you serve him as eyes unceasingly vigilant may he trample down all my enemies

61 "Yet more — may you two, who hang on the feet of the Jina prince, like bees on a lotus, glorify the faith in the lord of the Jinās this great wish of king *Kumarapala*, which he entrusted to me in a vision, must of necessity be fulfilled "

62 When the king had given these instructions, to which a good invisible god called out his approval — falsely taken for the echo from the vault of the audience chamber, — he gave over the two to the heroic *Viradhavala* "

If we compare this narrative with that given concerning events by *Someśvara* in the *Aṅgīkāvya*, a considerable difference, especially in the rôle allotted to

Bhūma II, is unmistakable. According to Someśvara's representation, the Gūrjara-rājalakṣmī, the Fortuna or protectress of the kings of Gujarat, appeared in a dream to Lavanaprasāda, the Rānā of Dholkā, and called upon him, with the help of his son, to save the kingdom which had fallen into decay in the unskilled hands of Bhūma.¹ Someśvara further states that he himself was called before Lavanaprasāda on the following morning and asked concerning the meaning of the vision. He convinced his master, he assures us, that he was appointed by Providence to save his fatherland and induced him to obey the command of the goddess.² Thereupon Lavanaprasāda entrusted to his son the execution of the duty laid upon him.³ A short time afterwards, Vastupāla and Tejahpāla were appointed his ministers.⁴ If we reject the mythological additions in this record, which Someśvara, as a good court poet and artist, held himself bound to put in, it merely says that *Bhūma* was a weak and unskilful ruler, and that *Lavanaprasāda* and *Vīradhava* made use of his weakness in order to found a kingdom of their own. To this understanding we are led particularly by the circumstance, the Someśvara, in the description of the kings of Anhilvād, expresses himself by no means respectfully concerning Bhūma II, when he says (*Kṛīṣṭakausāśī*, II 61) "Powerful ministers and barons gradually divided the kingdom of this young and foolish (*bālasya*) ruler," and elsewhere again (*ibid* II 4) he gives the king the same not very complimentary epithet *bala*. On the other hand, there is nowhere a question of Lavanaprasāda's service, and in the numerous inscriptions in the temples built by Vastupāla and Tejahpāla on Gīrnār and Ābū, and in other places, any mention of the suzerain of Gujarat is entirely wanting. On the other hand in the Gīrnār inscriptions, which were written V S 1288, ten years before Bhūma's death, *Vīradhava* receives the title of Mahārājādhirāja, as if he were an independent ruler. Such a disregard of the forms which Indian etiquette prescribes for Vassal-princes and their servants, shews that *Bhūma* did not stand in great esteem at the court of Dholkā, and that he was not powerful enough to force from Lavanaprasāda and Vīradhava the respect due to him. In spite of this it was probable, before the discovery of the *Sukṛitasamkīrtana*, that Someśvara's account did not quite correctly represent the true relation of his master to Bhūma II. For Merutunga says in the *Prabandhaśāstrīnāmāni*, p 250 (Bombay edition), quite clearly, — श्रीमद्भीमदेवराज्य चिन्तावापी व्याघ्रपदीवसदात्मसिद्ध श्रीमदानाजयनन्दन श्रीव्यघ्रपदादिधिरे राज्य चरार ।⁵ — 'the administrator of the illustrious Bhūmadeva, the illustrious Lavanaprasāda, son of the illustrious Ānāka (Arjorāja) surnamed *Vāghrapāliya* (Vāghelā) ruled a long time.' This note led me in my first discussion of Someśvara's works (*Indian Antiquary*, Vol VI 187 ff) to suppose that Lavanaprasāda was for a time in *Bhūma*'s service, and that he only later, — when *Bhūma*'s folly, to this day proverbial in Gujarat, his arrogance and extravagance, convinced him that there was no help for it, —

1 *Kṛīṣṭakausāśī* II 89-107

2 *Kṛīṣṭakausāśī* II 83-85 100-113

3 *Kṛīṣṭakausāśī* II 114-115

4 *Kṛīṣṭakausāśī* III 51 compare also II 112 where Someśvara accosts to his lord the necessity of appointing capable advisers

5 The edition and Mss of my collection write evidently incorrectly *Vyāghrapāliya* *Lavanaprasāda* is the reading of I O L B S MS No 296 instead of the *Lavanaprasāda* of the published edition

undertook to found a kingdom of his own. As the date of this defection I thought proper to fix the Vikrama year 1276, in which according to the Girmar inscriptions, *Vastupāla* was appointed minister. Anisimha's account, which, coming from a contemporary, possesses as much authority as Someśvara's, confirms only a part of these suppositions, whilst he makes it necessary to modify another part of the same. We learn from him that *Bhīma II*, through his inability to keep the vassals in order and through various difficulties, was forced to seek help and support, and that he himself chose his relative. The choice was prompted partly by Lavanaprasada's personal qualities, the description of which agrees with that of other sources partly through his father Arnoraja's having (v 18 above) already done important service to Kumarapala and having been helpful to Bhīma himself in obtaining the throne (vv 19 and 38 above). The title *Sarvēśvara* Lord over All which Lavanaprasada according to Anisimha's representation received has much the same meaning as Merutunga's expression *rayachantakarin* and hints that Lavanaprasada's position was a very independent one. The further statement that Viradhavala was at the same time named heir to the throne (*Isaraja*), takes for granted that Bhīma had no sons. Nor do the *Prabandhas* make any mention of such. It must however, be remarked also that neither is Viradhavala's appointment anywhere mentioned. In any case it remained without practical consequences, for Viradhavala died several years before Bhīma. Also in the statement that Bhīma gave the brothers Vastupāla and Tejapāla to his Sarvēśvara for counsellors Anisimha stands alone. Someśvara says nothing particular at all as to how the two Jains acquired their dignity. In the third Sarga of the *Kirtikaumudī* he gives first a description of their genealogy which agrees with that given by Anisimha (vv 45-46 above) and adds (vv 51 and 52) that the two at once occurred to the prince who desired to win able men. He considered their great qualities and then sent for them. Further on his address and Vastupāla's answer are given in full without however, affording any possibility of learning anything from them of the earlier circumstances of the latter. The later *Prabandhas* *Rajasekhara's Vastupālaprabandha* and *Junaharsha's Vastupālaśarita* state that the brothers had come accidentally to Dīolkā on their return from a pilgrimage to Satrumjaya and were immediately engaged by Lavanaprasada and Viradhavala who had just seen the supernatural appearance mentioned by Someśvara. These statements like a great deal more seem to be borrowed directly from the *Kirtikaumudī* and are hence of no value. Someśvara's representation is however certainly defective for he leaves it uncertain how Vastupāla and Tejapāla had so distinguished themselves that Lavanaprasada could take them for suitable instruments for his plans. On the other hand if one accepts as Anisimha hints (vv 57 and 59 above) that they had both been already in the royal service this difficulty disappears. The probability of these statements is also supported by the circumstance mentioned by Someśvara (*Art* III 14) and by Anisimha (v 59 above) that their grandfather *Soma* had held a high position under Jayasimha. In the case of the brothers having been in royal service however Bhīma's consent was naturally necessary to their entering Lavanaprasada's service. Thus we must declare Anisimha's account to be more worthy of credit. We can only doubt whether Vastupāla received his appointment at the same audience at which Lavanaprasada was appointed *Sarvēśvara*. The date of the former event is fixed as already

mentioned, by the *Girnār inscriptions*, where it is repeatedly said that, from the (Vikrama) year (12)76, in Dholkā and other cities, he sealed "affairs with the seal." ¹ The acceptance of Arisimha's statements makes it, of course, necessary to reject the suppositions expressed on a former occasion (*Indian Antiquary*, loc cit) that the appointment of Vastupāla and Tejahpāla marks the period when Lavana-prasāda deserted Bhīma and began to found a kingdom of his own

The *new discoveries made since 1877* render it doubtful whether the *Sarvesvara* or his son ever was unfaithful to his master. It appears rather as if *Lavana-prasāda*, in his relation to the latter, although he practically ruled independently over the southern part of the Gurjara Kingdom, yet conducted himself at least outwardly as a vassal, and that Professor V A Katbvatē is quite justified in comparing ² his relation to Bhīma with that of the Marāṭha Peshvas to the court of Sātārā. Of special significance for this point is the *Lekhapanchāśika* ³ discovered by Dr R. G Bhandarkar, which, as he correctly acknowledges, was composed in the Vikrama year 1288, that is, twelve years after Vastupāla's appointment as minister and during Bhīma's reign. This little work gives formulæ for letters and documents of different kinds. Among the latter there is a gift of land, dated V -S 1288 in which the *Mahamāndalesvarādhipati*, 'the great overlord of the tributary princes,' Rāṇā Lāvanyaprasāda, is named as giver. Before his name stands the whole genealogy of the Chaulukya kings of Anhilād, and it is remarked that, by the grace of his master Bhīma II, he possessed the *Khetakahūrapathaka* 'district of *Katra*' ⁴. Then the same work contains, as an example of a state treaty, an agreement of the same date between the *Mahamāndalesvara* Rāna Lāvanyaprasāda and Simhana (Simghana), the *Maharājadhraja* of Devagiri, in which both contracting parties respectively promise to respect the other's boundaries, to keep peace and to help each other. Although the first of these two documents is evidently nothing more than a formula, and of the second nothing can be certainly proved as to whether it is a copy of a real treaty, yet their value remains considerable. Then, as the author of the *Lekhapanchāśika* was a contemporary of Lavanaprasāda, we may take for granted that he describes the political relations in general correctly. We may believe him on the one hand that in the Vikrama year 1266 Lavanaprasāda was authorised to make treaties with foreign princes and consequently possessed a high degree of independence. On the other hand we must admit that if Lavanaprasāda at that time made gifts of land he employed the form ordinarily used by tributary princes and acknowledged the overlordship of Bhīma. If this be correct, there can be no question of a defection on the part of Lavanaprasāda, at least until V -S 1288. The relation must rather have been as Arisimha gives it. Lavanaprasāda stood higher than all other rulers of districts, and governed the kingdom of his master in the strength of the trust committed to him. However free and high may

1 *Arch. Reports of Western India* Vol II p 170. Vastupāla calls himself in this and in corresponding passages in other inscriptions. *Sarvesvara* his brother on the other hand *Mahāmātya*

2 *Kirishanmala* p xxxv

3 *Report on Search for Sanskrit MSS 1892-93* p 28 ff and p 222 ff

4 This should be written p 223 for *Khetakahūrapathake* and p 224 for *Khetakahūrapathake*

As in other passages of the formulary the expression is incorrect. For *dhāra* originally corresponded approximately to the modern *zila* and *pathaka* to *dist.* Moreover similar combinations of the two expressions are found in real presentations of land in later times.

have been his position, he had not become a rebel. The confirmation, which Arisumba's statements receive through the *Lekhapañchāsikā*, make it advisable, in the representation of this period of the history of Gujārat to trust him more than the insinuations of Someśvara.

In concluding the discussion of this part of the *Sukṭilasamkīrtana*, the mythological clothing must still be mentioned. In the treatise by Zachariae and myself on the *Navasahasankacharita*, p 46, I shewed that the court-poets often deemed it suitable, at crises in the history of their heroes, to make the gods actively interfere. When Arisumba then makes the spirit of Kumarapāla descend from the fields of heaven to move Bhīma to the appointment of Lavanaprasāda as his *Saricēstara*, it is not difficult to see what moved him to make use of this *deus ex machina*. Kumarapāla was well known as the adherent and protector of the Jaina faith. After his death a Brahman reaction took place under Ajayapāla and though Ajayapāla reigned only a short time, the Jaina sect seems not to have regained its former importance under his sons Mularāja and Bhīma II. Only when Vastupāla and Tejahpāla became ministers in Dholkā did it again raise its head. Both belonged to one Jaina family and were filled with great enthusiasm for their religion. They spent a great part of their rich incomes on the erection of temples, asylums and benevolent institutions, so that at least the outward lustre of the Jainas was restored. Arisumba tried to unite the two prosperous periods of his sect by representing Kumarapāla as the intellectual originator of the second. In doing so, he has not refrained from putting words into king Bhīma's mouth which he certainly never spoke, when he makes him call upon Vastupāla and Tejahpāla (v. 61 above) 'to glorify the belief on the lord of the Jainas.' According to all we know of Bhīma, he favoured exclusively the Brahmans, and especially the Śaivas, to whom he made many presents. To excite vastupāla's enthusiasm for his faith was, however, absolutely unnecessary.

VASTUPĀLA'S PILGRIMAGE TO ŚĀTRUMJAYA AND GĪRNĀR

In the fourth Sarga Arisumba turns to the description of the *Saṅgīta* of pious works of Vastupāla, by which he adorned the Jaina religion. First he mentions shortly that Viradhavala, with the help of his minister, soon 'conquered the ocean-girt earth and put down all wrong and violence' (vv 1-7). Then he relates how in that happy time Tejahpāla came to his brother, praised his successes, and advised him to keep in mind the king's command and support the Jaina religion (vv 8-13). Vastupāla agreed and declared he would at once visit his spiritual director to hear his preaching and begin his works of piety according to his advice (vv 14-26). On this occasion the succession of the monks of the *Nagendra gachchhā* is gone over, which, since the time of Chandapa had served the family as spiritual advisers. The names are precisely the same as those in the *Praśasti* of Tejahpāla's temple on Mount Abu¹ - (1) Mahendrasuri (vv 15 16) (2) Śāntisūri (vv 17-18) (3) (a) Ānandasuri and (b) Amarasuri (who received from king Jayasumba the title of honour *Vyāghraśūkau*, 'the young tigers,' because even in early youth they were able to withstand proud disputants resembling fiery elephants (vv 19-21) (4) Haribhadrasuri (vi 22 23) and (5) *Vijayasena*

¹ *Alisikānamādī* App. A pp 9-10

{Vastupāla's spiritual counsellor, vv. 24-26}. Next we are told how Vastupāla went into the monastery with his brother and offered his homage to Vijayasena. The sermon following by the latter (which fills vv. 33-43) commends, as the most meritorious undertaking, a pilgrimage, and extols, as happy above all others the *samghādhipati*, the leader of pious pilgrims. The consequence is naturally that Vastupāla resolves to undertake a pilgrimage of the congregation to the holy places in Kāthiavad

The fifth Sarga then describes (vv. 1-6) the preparations for this journey. *Vasiupāla*, it says, sent letters to the believers in every town to invite them. He visited personally the monks in the monasteries and invited them respectfully. For those who responded he cared in every way. Whoever had no carriage, he gave him one, whoever wanted provisions for the journey, got them, and for those who had no servants he provided them. Medicines and physicians also were not forgotten, so that those who sickened by the way might have assistance. When all preparations were complete, he had himself solemnly consecrated by his Guru as *Samghādhipati*, and set out 'surrounded by a wonderful army of carriages' (vv. 7-8). In verses 10-13 the names of some distinguished monks who took part in the pilgrimage are mentioned — Narachandrasūri, Jinadattasūri of the Vāyāṭa gachcha, Śāntisūri of the Sanderaka gachcha, and Vardhamānasūri 'the sun of the Gāttakas'. In Kāsahrada, which is probably identical with the modern Kāsandra or Kāsandhra near Gāmph,² a halt was made, and (v. 16) a great festival was instituted in the temple of Rūshabha. Of other stations by the way nothing is said. The Sarga closes with the arrival of the pilgrims at the foot of Mount *Satrumjaya*, where Vastupāla pitched a great tent-camp (v. 41) and distributed rich presents, especially of provisions, to all in want. He cared not for himself, it says, until he had assured himself by means of his heralds that no one wanted anything.

After, in the sixth Sarga, a conventional description of sunrise, which in a *Mahākāvya* must not be wanting, there follows in the seventh the description of *the ascent of the mountain* and the festivities engaged in there. The ascent took place on the morning after the arrival. The first shrine which the pilgrims reached was that of the Yaksha Kapardin (v. 12). Vastupāla offered his homage and celebrated him in a song of praise (vv. 13-16). Then he hastened to *the temple of Ādinātha*, whither the pilgrims followed him in crowds (v. 17). Still covered with the dust of the way, Vastupāla fell down outside before the lord of the Jamas (v. 26), and praised him in a hymn (vv. 27-33). Only then did he purify himself, the pilgrims following his example, and then he entered the Chaitya with them amid the performance of dances and songs (vv. 34-37). Thereupon he washed the image, as the rule prescribed, with saffron-water, rubbed it with musk, and wreathed it with flowers. The pilgrims burnt at the same time so much incense that the temple was wrapped in thick darkness. And at last the *ārātrika* was performed, numerous lamps being swung to and fro before the statue (v. 38-42).

² Instead of *karada* tank *drava* occurs in the Prakrit so that Kāsandra would correspond exactly to the Sanskrit Kāsahrada. The further corruption conforms to the rules of Gujarati phonetics. Kāsandra lies (see *Trig Sura Maps Gw Ser Nr 82*) in 72° 14' E. long and 22° 19' N. lat., pretty nearly on the direct route from Dhōliā to Pāṭānā. In the text Kāsahrada is called a *pañcāna* 'a town'. The modern Kāsandra is a village of about 400 inhabitants.

The following verse 43 tells us that the stay on the mountain and the worship lasted eight days¹ Then the prince of counsellors, after bestowing rich gifts upon the monks, descended from Mount Śatrumjaya performed the auspicious ceremonies for the journey and longed to bring his homage to the divine Neminātha on Girnar

According to Sarga VIII 1, the procession did not go directly to Junāgadh, but first to *Devapattana* or *Somanātha* on the south coast of Sorath 'There he, who possessed terrible power, worshipped the conqueror of Kama, the (god) characterised by the moon, he who is beautiful to look upon,' i.e. Śiva-Somanātha Soon, however, the ocean, 'pure through its shell mark and blue as the *indranslata-stone*,' reminded Vastupāla, by these its qualities, of Neminātha (v 10) and drove him to go further Mount *Ravatalaka* (Girnar) came in sight, and it seemed to the minister as if the creepers of its woods swayed by the wind, performed a joyful dance in honour of the arrival of the holy congregation (v 11) This sight inspired Vastupāla to a song of praise (vv 12-16) After his arrival he had a camp pitched at the foot of the mountain and celebrated the arrival by a festival On the next morning the pilgrims ascended Girnar (v 28) The description which now follows of the worship of Neminātha (v 29-42) is only a repetition of the scenes in the temple of Ādinātha In conclusion, it says that the halt on Girnar lasted, like that on Śatrumjaya, eight days It is worthy of note that Vastupāla, on leaving, is said to have offered his homage to the Brahman gods Ambā, Sāmba, Pradyumna, and the rest, who had temples on the mountain

The ninth Sarga is like the sixth, a purely poetical addition without any historical element whatever It gives a description of the six seasons, which the prince of the wise, whose wishes were fulfilled, saw on the slopes of the mountain

The tenth Sarga is occupied with the return of the congregation from Girnar to Dholka Immediately after the descent Vastupāla gave the pilgrims a magnificent banquet and distributed rich gifts among them (vv 1-5) Then he set out for *Vamanasthal*: the modern Vantli on the way from Junāgadh to Devapattana, and made a solemn entry into the town Formerly it was forbidden to Jaina pilgrims to enter the city, Vastupāla, however, had 'the godless writing destroyed' (v 6) Concerning the further course of the journey, all that is related is that in every village incense was offered to the Tirthamkaras (v 7) When the procession reached the neighbourhood of Dholka, not only Vastupāla's relations, but also Viradhavala, with the citizens, came out to meet him In the midst, between the Rājā and his brother Tejahpāla "like a Śiva represented in the manner of the Tripurushas (v 11) he entered the town amid the praises of the bards (vv 14-29) and the passionate expressions of joy of the women (vv. 31-42).

Vastupāla's pilgrimage is mentioned in the inscriptions in his temple on Girnar as well as in Somēśvara's *Kirtikaumudī* The inscriptions² state quite briefly that

1 This note found also in Junāgarha's *Vastupāla-charita* has a particular interest because Jaina pilgrims never pass the night on the mountain now

2 J Burgess *Archaeolog Survey of Western India* No 2-Memorandum of the Antiquities at Dabhoi etc. p 22 l 4 ll p 23 l 11 ll etc and *Arch Report Western India* Vol. II p 170

३- ७७ वर्ष श्रीसमुद्रकोन्दवन्दप्रभृतिगदातीर्थयात्रात्सवप्रभाविभूतश्रीमदेवाविदेवप्रसादादिदशपाथि
स्वयेन श्रीवस्तुपादेन ।

The same date V S 1277 is rightly given by Merstunga in the *prabandhakāśikā* p 254.

"Vastupāla, in the year 77 (V S 1277), attained the dignity of a Saṃghādhipati or head of the congregation by the grace of the illustrious over-god of the gods, who, in consequence of the mighty working of the festive pilgrimage undertaken to Śātrujaya Ujjayanta (Girnār) and other shrines, revealed himself" Someśvara, on the other hand, dedicates the whole of the last Sarga of his poem to the pilgrimage, and his description of it agrees on the whole with that given by Arisimha. Yet there are the following differences. The halt in Kāsahrada is not mentioned. It is said on the other hand (*Kṛi* IX 19,20), that the route followed by the minister could be traced by means of the restored old temples of the Jinās and the freshly dug tanks, as also that the pilgrims offered homage in all the temples to which the procession came. On *Śātrujaya*, Vastupāla stopped according to Someśvara (*Kṛi* IX 35) only 'two or three days'. In spite of this, it is said immediately before (IX 30-36) that he presented a flag of yellow-white stuff to the temple of *Ādinātha*, that he built two temples to *Nemsaṅga* and *Purśvanātha*, and had a large tank dug. It is not doubtful that the last two notes refer to a later time. Further on in the course of his report Someśvara (IX 66-69), places the visit to *Girnār* before that to *Devapaṭṭana* or *Prabhāsa* (IX 70-71). He states also that Vastupāla was 'many days' on *Girnār*, and that in *Devapaṭṭana* he worshipped, besides Śiva-Somanātha,³ the Jaina Tirthamkara Chandraprabhu. Probably this contradiction is explained in that two visits to *Devapaṭṭana* took place. Arisimha hints at this when he says the pilgrims went to *Vāmanasthali* on their return-journey. *Vāmanasthali* or *Vanthli* lies about nine miles south-west of *Girnār* and on the direct road to *Devapaṭṭana*. Whoever travels by *Vanthli* on the return from the *Girnār* cannot readily take any other way afterwards towards the mainland of Gujārāt than that which leads from *Devapaṭṭana* first along the south and then along the east coast of the peninsula. This seems to have been in early times the ordinary route for caravans and pilgrimages.²

VASTUPĀLA'S BUILDINGS AND PIOUS INSTITUTIONS

The eleventh and last Sarga begins with the statement, that *Vastupāla*, after he was made lord of the town of *Śambhalarītha* by *Vīradhavalā* began to build temples (*Asṭanāni*) which resembled embodiments of his fame on earth, and in verses 2-31 forty-three buildings, restorations and institutions of different kinds are enumerated. This list is much more modest than those which occur in the later *Prabandhas* of *Rājasekhara* and *Jinaharsha*. It contrasts also advantageously with the absurd boastfulness of the *Girnār* inscriptions, in which it is said³ that *Vastupāla* and *Tejāhpāla* caused new places of religion (*Dharmasthānāni*), i.e. temples, asylums abodes for the performance of perpetual vows, tanks and so on, to the number of ten millions (*koṭīśak*) and also caused very many restorations to be made. Arisimha gives the following details —

I — In *Anahilapuri* or *Anhilīlī-Pāṭān* —

- 1 The restoration of the temple of *Pañcāsara-Pīrśvanātha* which *Vanarāja*

¹ The worship of Śiva and tīng for a Jaina, is also admitted by *Jinaharsha*—1 *Cār* VI 533

² In the *Vastupālaśāstra* VI 515 ff. the way is more minutely described and the stations between *Sātrujaya* and *Girnār* are (1) *Tāladhvaja* or *Tālīlī*. (2) *Koṭāri* of *koṭāri*. (3) *Devapaṭṭana* and (4) *Vāmanasthali*.

³ *Arch. Rep. Western India* Vol. II p. 173 15 transcription

(p 65 above) had caused to be built (§ XI 2) With this agrees Jinaharsha in the *Vastupālācharita* VII 66, where it is added that the building took place when Vastupāla visited Paṭan after a battle against the Muhammadans at Ābū, which he won by the help of Dharāvārsha of Chandrāvati Muhammadan authors mention nothing of attacks upon Gujarat in the first half of the 13th century At the same time it is possible that during or after Shamsuddin Altamsh's expedition against Ranthambor. A D 1226¹ parts of the victorious army may have come as far as Ābū and attempted an invasion of Gujarāt If Jinaharsha's note be correct we may perhaps accept that the restoration of the temple in Anhilvād took place in the year A D 1226 or 1227

II — In *Siambatiritha* or *Cambay* —

2 The erection of a golden *setu*, a gilded, flag staff and knob on the temple of Bhīmeśa (§ XI 3) The *Vastupālācharita* (IV 720) gives the same note, and has, instead of the vague *ketu* (literally "banner"), the plainer expression *dhvajadanda*

3 The erection of an Uttanapaṭṭa before Bhaṭṭāditya and of a golden wreath on his head (§ XI 4) The *Vastupālācharita* IV 719, speaks of an Uttanapāda (?) in the temple of Bhaṭṭāditya The technical meaning of Uttanapaṭṭa is unknown to me

4 The excavation of a well in the temple-grove (*pūjanāna*) called Vahaka of Bhattarka (§ XI 5)

5 The erection of a *mandapa* or vestibule overlaid with stucco (*śukhāmādhura*) before the temple of the sun-god called Bakula (§ XI 6) The *Vastupālācharita* (IV 721) speaks of a *raṅgamandapa* or painted vestibule before the temple of Bakulasāyāmadeva.

6 The restoration of the *mandapa* and of the temple of Śiva-Vaidyanātha (§ XI 7) The *Vastupālācharita* (VI 718) says more plainly: "The temple of the god Vaidyanātha, together with the *mandapa*, he made new again to the everlasting safety of his king"

7 The erection of high walled enclosures for the sale of sour milk (*takra*, § XI 8) Both Someśvara (*Ātri* IV 17) and Jinaharsha (*V Char* IV. 716) mention this The *uchchāṅṅhapaḍa* or *vedhbandha* must, as Prof A V Kathvate in the notes to the *Ātriśaunudi* says have been erected for the purpose of protecting the wares from contamination by people of low caste

8 9 The erection of two asylums (*upāsrayas*) for Jama monks (§ XI 9) Someśvara (*Ātri* IV 35) speaks of many *paushadhāśālās*, which Vastupāla caused to be erected in Cambay

10 The erection of a drinking hall with round windows (*garāhsha*) on two sides (§ XI 10) Someśvara (*Ātri* IV 33) again speaks of many such

III — In *Dhavalakka* or *Dholkāt* —

11 The building of a temple of Ādinātha (§ XI 11) According to *V Char* III 457, this temple was called Śatrumjayāvatara

¹ Elliot, *History of India* Vol II P 324

² वेदनापत्य दरवय मन्दिरं मण्डपोत्तरम् । श्वेदस निवसुमण्डलेने येन पुनर्नवम् ॥

12-13. The erection of two asylums (*upāśrayas*) for Jaina monks (Ś. XI. 12).

14. The restoration of the temple named Rānaka of Bhattāraka (Śiva) (Ś. XI. 13).

15. The construction of a *vāpi* or a square covered water-reservoir (Ś. XI. 13).

16. The erection of a pump-room (*prapū*) (Ś. XI. 14).

IV. — At *Satrumjaya* near *Pāṣṭānā* —

17. The erection of an *śādramanjāpa* before the temple of Ādinātha (Ś. XI. 15) : compare *V. Char.* VI. 630.

18-19. The erection of a temple of the Jina of Ujjayanta, *i.e.*, of Neminātha, and of a temple of the Jina of Stambhana, *s.e.*, of Pārśvanātha (Ś. XI. 15). Someśvara (*Kīrtikaumudī* IX. 31-33) and Jinaharsha (*V. Char.* VI. 631-632) also mention both temples, and the former calls the two Jinās by the usual names.

20. The erection of a statue of the goddess Sarasvatī (Ś. XI. 17) Neither Someśvara nor Jinaharsha mention this. It is, however, probable, for Vastupāla says, in the Gūmār inscriptions,¹ that he erected in Gīrnār a *prastastisakṣa-Kaśmīrīkūalāra-Sarasvatīmūrtī*.

21. The erection of statues of his ancestors (Ś. XI. 18). compare also *Kīrtikaumudī*, IX. 34, and *V. Char.* VI. 633. According to the latter passage, these statues, as well as those named further on, were set up in the temple of Pārśvanātha. This statement agrees with the actual state of things found in Tejahpāla's temple on *Āḍā*, where the statues stand in an annex (*śūlānaka*, *Kīrtikaumudī*, App. A., v. 61) to the right of the adytum.

22. The setting up of three statues on elephants, his own, that of Tejahpāla, and that of Viradhavala (Ś. XI. 19). With this, Jinaharsha (*V. Char.* 633-634) agrees entirely. Someśvara (*Kīrtikaumudī*, IX. 35) says the three personages were on horseback, which is certainly a mistake.

23-25. The erection of sculptures representing the four mountain summits consecrated to Avalokanā, to Ambā, to Śāmba and to Pradyumna (Ś. XI. 20). Jinaharsha says (*V. Char.* VI. 631) that these sculptures were found in the above-mentioned temple of Neminātha.² The four peaks might be those of Mount Gīrnār, now named after Ambā, Gerakhnāth, Dattātreya, and Kāṅka MATA compare also the Gīrnār inscriptions, *Arch. Surv. Rep. B. Ind. Loc. cit.* 1. 6, and above p. 76.

27. The preparation of a *torana* before the temple of the Jinapati, *s.e.*, probably of Ādinātha (Ś. XI. 21). Jinaharsha (*V. Char.* VI. 629)³ speaks of a *torana* over the western door of the *śādramanjāpa*, which last stood before the temple of Ādinātha.

28-29. The erection of temples of Suvrata of Bhṛgūpura or Broach and of Vira of Satyapura or Sāchor (Ś. XI. 22).⁴ Jinaharsha (*V. Char.* VI. 636-638) says the two temples stood right and left of the temple of Ādinātha, and that

¹ *Arch. Report B. Ind., Loc. cit.* 16.

² *पारश्वनाथकोठ्या-आस-प्रदुर्गा-पुत्रिः । एतं वैश्वानरपुत्रोऽपि विराट्पुत्रवत् ॥*

³ *प्रदुर्गा-पुत्रा-पुत्रवर्तमानिनाम् । एतद्वत्पुत्रोऽपि विराट्पुत्रवत् ॥*

⁴ Sāchor now belongs to Jodhpur or Rajpūtānā, and lies to the North-East of Thārtī, it is still a holy place of the Jains, and famous for its temple. It is on 25° 11' N. Lat., 71° 53' E. Long.

the first was built for the welfare of Vastupāla's first wife Lalitadevi, and the other for the welfare of the second Saukhyalata or Sokhukā

30 The erection of a *pristhapalla* i. e. of a tablet behind the statue of Jina (Ādinatha?) of gold and precious stones which seemed to give the statue a halo (*bhāmanāla*) (§ XI 23)

31 The raising of a golden *torana* (§ XI 24) ¹

V — In the neighbourhood of *Paḍalīptapura* or *Palitana* —

32 The excavation of a large tank (*sarah* § XI 26) mentioned also by Someśvara (*Kirtihāumudī* IX 36) and by Jinaharsha (*V Char* VI 677) In the latter passage it is added that the tank lay near Vagbhaṭṭapura the place built by Kumarapāla's minister Vagbhaṭṭa and bore the name of Lalitāsarah in honour of Vastupāla's first wife

33 The erection of an asylum (*upaśraya*) for Jaina monks (§ XI 27)

34 Of a pump-room (*praṣa* § XI 28)

VI — In the village of *Arkapalita* or *Ankavaliya*

35 The digging of a tank (*taḍaga* § XI 29) Jinaharsha (*V Char* VI 690) adds that Vastupāla had this tank dug for his own welfare According to the same author he erected in the same place a pump room for the benefit of his mother a *sattra* or alms house for the benefit of both his parents and further a temple of Śiva (*parabhīdo devasya*) and a rest house for travellers There are several villages in Kathiavād with the name of Ankavaliya Probably the one meant here is that which lies eastward from Bhimnath 71°59' E long and 22°15' N lat (Trigonometrical Survey Map Kath Ser No 14) on the river Lilka There is a large tank and the village lies on the old road from Dholka to Śātrumjaya

VII — On Mount *Ujjayanta* or *Girnar* —

36-37 The erection of two temples of Pārśvanātha of Stambhana and of Ādinātha of Śātrumjaya (§ XI 30) These two temples are mentioned in the Gmār inscriptions (*Arch Rep IV I Vol II* p 170 16) first among the buildings erected there Jinaharsha (*V Char* VI 695) speaks only of the temple of Ādinātha

VIII — In *Stambhana* ²

38 The restoration of the temple of Pārśvanātha which was adorned with statues of Ādinātha and Neminātha (§ XI 31) Jinaharsha says (*V Char* VI 518) that Vastupāla deposited 1000 *dīnāras* in the treasury of Pārśvanātha for the purpose of the restoration not that he himself had it done

39 40 The erection of two pump-rooms (*praṣa*) near the temple of Pārśvanātha (§ XI 32)

¹ In verse 25 the author says that he would be able to describe all the buildings erected on the Śātrumjaya, if the creator had given him a place in the firmament like the teacher of the gods (the planet Jupiter)

² This place lay as is often mentioned in the *Prabandhas*: on the river Śeḍhi or Sheḍhi and thus in the eastern part of the present collectorate of Kbedā. Peterson's identification of it with Stambhātṛtha or Cambay (*India Report* p 26) is untenable for the Sheḍhi is more than 30 miles distant from Cambay and Stambhana is named along with Stambhātṛtha in the Gmār inscriptions [Stambhana is an old name for Thāmna on the Śeḍhi, 10 miles south west from Thārdā in Ānand tāhka lat. 22° 43' N long 73° 9' E] B]

IX—In *Darbhavati* or *Dabhos*

41-42. The placing of gold capitals on the temple of (Śiva) Vaidyanātha, because the old ones were carried off by the king of Mālava, and the erection of a statue of the sun-god (§ XI 33) Jinaharsha mentions these (*V Char* III 371), but ascribes them to Tejahpāla

X — On Mount *Arbuda* or *Ābā* —

43 The building of a temple of Malladeva (by whom may be meant Mallideva or Mallinātha) for the benefit of his brother Malladeva (§ XI 34) In the *V. Char* VIII-76, it is stated that the temple for the benefit of Māladeva was built on Śātrumjaya Since only one temple of Neminnātha built by Tejahpāla, is found on Ābā, and its position makes it improbable that a second ever existed, the mistake may be on Arsimula's side

In this list of Vastupāla's buildings the restorations of Brāhman temples, as well as of the decoration of such buildings, have a special interest They prove, as does also his worship of Śiva-Somanātha in Devapattana (p 77 above), that he was no exclusive Jaina, but was rather lax in his religious views, and thereby confirm some hints in the later *Prabandhas* on this point (see *Kṛtikaumudī* p xxii) The reasons for his lax view may have lain partly, as Professor A V Kathvate says, in the passage quoted in his familiar intercourse with the high priest Someśvara and other Brāhman savants but may partly be due to his position at the Brāhman court of Dhoika The latter is hinted at by Jinaharsha also He adds apologetically, on mentioning the worship of Śiva-Somanātha in Devapattana, that Vastupāla performed this act to please his king¹ He also says further on, that the minister, 'at the command of his master,' prepared a *mundamālā*, or 'skull-chain' or 'tuara, adorned with rubies, for Śiva These well-authenticated pieces of information have their significance in the judgment of cases where something similar is stated of court Jainas, as, for instance, of Hemachandra,² in works less worthy of credit

The second interesting point in the catalogue is the mention of *only two temples on Girnar* This shows plainly that the great threefold temple, which now forms the principal ornament of the mountain, was not yet finished, perhaps not yet begun The date of the six inscriptions, identical in their first parts, in the Vastupālavihāra, is Vikrama-Samvat 1288 Phālgua śudi 10, which according to Jacobi's calculation, *Indian Antiquary*, Vol xvii p 151 f., corresponds with the 3rd March A D 1232 The *Sukṛitasamkirtana* must therefore have been written before that time, and we must not put its authorship earlier than Vikrama-Samvat 1285 From a comparison of the list of Vastupāla's buildings in the *Kṛtikaumudī* it is further clear that the latter work was written in a little earlier than the *Sukṛitasamkirtana* For in the *Kṛtikaumudī*, the buildings on Śātrumjaya are mentioned, but not two temples on Girnar

1 *V Char* VI 535-536 —

धीवीरपराधीरस्तान्तमन्त्रीपदेनवे । सोमेश्वरं तद्वानरं मन्त्री नानाविधानैः ॥ ५१५
नरेन्द्रदेवसो मन्त्री सोमनाथमहेश्वरः । माणिक्यराजितो सुव्रजालामयमकारणम् ॥ ५१६

2 See *Ueber das Leben des Jainas-Wissenes Hemachandra* S 27 f

NOTES ON VASTUPĀLA'S WARLIKE DEEDS

While Anusimha, true to his plan, sings only of the *sukṣmas* — the pious deeds of Vastupāla, Amaraṇḍita endeavours to acquaint posterity also with the heroic deeds of his patron. He evidently knows of only one, the victory of Vastupāla over *Samgramasimha*, the son of *Sindhurāja*, who seems to have been a petty vassal-prince or village chief in Vaṭakupa near Cambay, and over his ally *Śankha*. He says, I 44 ' They call him a Jaina, but the illustrious minister Vastupāla is devoted also to Śiva. He washed the master who wears the form of air (*i. e.*, goes naked) with the water of shining fame which he took from *Śankha*.' Further, VIII 46 ' Thy sword illustrious Vastupāla, beautiful in rising and brandishing valiant in deed, defeated in the world that *Samgramasimha*. And X 45 ' Thy glory O Vastupāla, which shines by the victory over *Sindhurāja* is like the moon in the sky since the spot in it is certainly the face of *Sindhurāja* which was blackened by his deep shame.'

Vastupāla's feud with *Samgramasimha* and *Śankha* is related at length by Someśvara in the *Kṛṣṇakumudā* IV V, and Someśvara also is unable to report any other warlike deed of his friend. Since, then, we possess two eulogies, which, although otherwise independent of each other, mention only this one exploit, we may conclude that the accounts in the later *Prabandhas* of the numerous heroic deeds of Vastupāla and Tejahpāla, in the beginning of their career, deserve no great confidence.

In conclusion, it may be mentioned that Amaraṇḍita twice addresses *Vastupāla* by the name of *Vasantaśīla*. This was his poet name, under which he wrote the *Naranāśvānānda kavya*, which I found in Aṅhīlāḍ in 1875.¹

INTRODUCTION

of the *Sukrtasankirtana* text by late
Muniraja Shri Chauravijayaji Maharaja

साक्षाजिनाधिपतिधर्मनृपाङ्गस्त्रो जागति नत्तितमना मुदि वस्तुपालः ।

The *Sukrtasankirtana* is a historical Mahākāvya describing the good deeds of *Vastupāla*. It consists of eleven cantos and at the end of each canto are appended five verses composed by a *Amara Pandita*. Three out of these are eulogistic, the fourth mentions *Anisimha* as the author of this work and praises his poetical skill, while the fifth records the fact that these four verses are composed by *Amara*.

The popularity of the work. The *Sukrtasankirtana* does not seem to have been popular even among the Jains. Verses from *Someśvara's Kirtikaumudī* are often found in the *Prabandhakośa* and *Jinabharsha's Vastupālchantra*, but none from the *Sukrtasankirtana*. *Bālachandra* has also composed his *Vasāntāvīlas* on the style of the *Kirtikaumudī*.

Literature about *Vastupāla*—The main works about *Vastupāla's* history are as under,—

Contemporary

- | | | |
|-----|-------------------------------|---|
| I | Sukrtasankirtana | |
| II | Kirtikaumudī | |
| III | Dharmābhayudaya | } |
| IV | Sukrtakirtikalohani | |
| V | Hammuramadānandana | } |
| VI | Vastupāla Tejahpāia Prasāsti | |
| VII | Vasāntavīlasa by Bālachandra. | |

Later

- VIII *Vastupālaprabandha* in the *Prabandhachintāmani*
- IX *Vastupālaprabandha* in the *Chaturvimsatiprabandha*
- X *Vastupālacharitra* of *Jinabharsha*

The author and his religion—The author of the *Sukrtasankirtana* is *Anisimha*, son of *Lavanasimha*. He was a protege of *Vastupāla* and we understand from the *Upadeśatarangini* that like *Someśvara*, the author of the *Kirtikaumudī*, he too got a *gras* and other gifts for this work¹. It is not clear to what caste he belonged, whether he was a *Bania* or a *bard*. He has got the appellation *Ṭhakura* and this appellation was common among the *Banias* too. As to his religion, it is not quite certain whether he was a *Jaina* or a *Shaiva*. The fact of his bringing the spirit of *Kumārāpāla* and making him to order *Bhima* to revive the glory of *Jainism* speaks in favour of his being a *Jaina*, while his omission of salutation of *Jina* in the beginning of his poem and his telling us that *Vastupāla's* mother *Kumārādevī*, though a leader among those following *Jainism*, had faith in *Śiva* too, which is not mentioned by any other writer, may lead one to believe that he was a *Śaiva*,

(1) स्वसङ्घितेनपुणकुलपूर्वजमदासप्रतिपादकीर्तिश्रीशुद्धतसद्योविकारव्यहसोमेधरारिसिंहयोप्राप्तप्रामाद्यदुकादि-
दान यावज्जीवाहं दधम् ।

of course, not staunch Jahlana's Suktimuktāvalī quotes four verses of Arasi Thakkura,² who is most probably the same as our author

Amarachandra and his relation with Arisimha — Amarachandra is an illustrious figure in Sanskrit literature. The fame of his works was not only restricted among the Jainas, but also extended to the Brahmins among whom his works *Bālabhārata* and *Kavikalpalatā* were popular. His other available works are *Chhandoratnavali*, *Syādisābdasamuchchaya* and *Padmānanda Kāvya*. The last work was composed at the request of *Koṣṭhāgarika Padma*, a *Vayada Bania* of *Pattan*.³ It is otherwise known as *Jinendracharitra*, as it gives the lives of *Tirthankaras*. The *Prabandhakośa* mentions two other works of his, *Sūktāvalī* and *Kalākālpa*. He compared in one place in his *Bālabhārata* the braid (*वेणी*) to a sword and for this he was known as *Vemkṛpāna Amara*. *Amara* was the pupil of *Jinadatta Sūri* of *Vayaḍḡagachchha* the author of the *Vivekavilāsa*. *Jinadatta Sūri*'s name is mentioned in this poem among the *Ācharyas* who accompanied in *Vastupal's* pilgrimāḡe *Śatruḡyaya*. The *Prabandhakośa* tells us that *Amarachandra* got the charm of *Siddhasārasyata* from *Kaviraja Arisimha*, pupil of *Jinadatta Sūri* and by his chanting this for twenty one days the Goddess of Learning appeared before him from the disc of the moon at the midnight of the twenty-first day and gave him the boon that he would be a *Siddha Kavi*, honoured by all kings. The same *Prabandha* describes his entry into the court of *Visaladeva* and through him of his teacher in fine arts, *Arisimha*. But the *Prabandhachūntiamaḡa* tells us that *Amarachandra* had entered the court of *Dholka* in the time of *Vastupāla* and was recognised as a poet of power and note *Amarachandra* does not mention in any of his published works that he was a pupil of *Arisimha* in fine arts but it is only clear from the works that he held *Arisimha* and his poetry in high esteem. The story about *Amara's* getting *Siddhasārasyata* charm from *Arisimha* and also his introduction of *Arisimha* into the court of *Visaladeva* should be accepted with much reserve. One thing is, however, clear from this that both *Amara* and *Arisimha* occupied a remarkable position in the literary court of *Visaladeva*. Just as *Amarachandra* had composed four verses in the *Sukṛtasamkīrtana*, so the *Sūtras* of *Kavikalpalatā* of *Amarachandra* were composed partly by *Arisimha* and partly by

- (2) अतिविपुलं कुचयुगलं रहसिं करैरामृधन्मुहुर्दंभ्याः ।
 तदपहृतं निजहृदयं जयति हरिर्मुग्धमयाणं इव ॥
 मय्येनं तस्या विजितं कृष्याज्ञया पमानेन क्षान्तवददाय ।
 तस्याः स्तनस्नम्नतीधिरैव कुम्भौ गगनात् इजितो भिजति ॥
 इधिमयनविलोमोलहग्याणिदमारमदययमनशो विधविश्वकृतेषां ।
 मवगिभनयेदायफनाणः कृष्यागधमभिव दिवमादौ व्यघसपिर्व्यनकिं ॥
 बन्ताऽस्सद्देवगत्या कथयति गमितान्बानरान्शेषमक्ष्वा
 ष्युग्नीयोषीष भूयस्तदनिनरनिगामेन तेभ्य धयते ।
 इत्य त्वद्विरिनीरी गिगिपु नरपते ! जलुमुन्वीवदम्ब
 भ्रान्त्या भवतुमुशोः वधयति पुनर्धर्षेण पद्मबलाम् ॥

Jahlana's Suktimuktāvalī

- (3) पद्मनाम्बयित्तिं न श्रीभिनेन्द्रचरिताह्वयम् ।
 वाक्प्रसादायो महाबाह्व्य विममे दिग्मनेध्वः ॥ पद्मानन्द १-४३

Amara¹ Amarchandra mentions in his Kavikalpalata one more work of Arisimha, Kavitarahasya Amarchandra calls Arisimha in the Sukrtasankirtana as an able disputant

Analysis of the work—The *first* canto gives the genealogy of the Chāpotkaṭa kings Of Vanarāja it is said that he founded the city of Anahilla Pattana and that he erected there the temple of Panchāsara Parśvanātha

After him Yogarāja, Ratnaditya, Vairisimha, Kshemaraja, Chāmunda, Rābada & Bhūbhata successively ruled over Gujarat This list of Chavda kings is identical with that given in the Sukrtakirtikalolani of Udayaprabha In view of the concurrence of these two authorities the statement in Krishnaji's Ratnamāla, which is not so old as is believed is unreliable

The *second* canto describes the reigns of the Chaukya kings Mularāja's pilgrimage to Someśvara every Monday is also mentioned in Bālachandra's Vasantavilāsa The fourth verse refers to his erection of Tripurusha Prasāda in Anahillavāda Mularaja defeated Barapa the general of the king of Kanyakubja, and Laksha, king of Cutch Vallabharāja's victory over the king of Malva is celebrated in verse 18th He had the *biruda* of Jagajzampana This *biruda* is found in the Kumārāpālprasādbhā, Kirtikaumudi, Sukrtakirtikalolani and Vasantavilāsa Durlabharāja was very modest and was ashamed when his court poets compared him to Krishna Bhīma defeated Bhoja of Dharā Karma conquered the king of Mālvā and brought home from there an image of Nilakantha Śiva, Jayasimha conquered Barbaraka and took prisoner Yaśovarma, king of Dhara He had the tank called Siddhasaras dug and a high pillar of victory built Jayasimha was very devotional towards his mother Kumārāpāla abolished the confiscation of the property of tradesmen dying without male heirs and caused Jaina temples to be built in every city He conquered the king of Jangla Arnorāja of Śākambhari, and his general Āmbada who was a Bania, defeated and killed the Kadamba king Malhka Arjuna of the Konkaṭa This victory of Āmbada is corroborated by Bālachandra in his Vasantavilāsa Ajayadeva generally called Ajayapāla got from the king of Sambhara a golden Mandapikā Mularāja II, though a child defeated the Turushkas, Mahamad Sīhabuddin Ghori Bhīmadeva II was very charitable and extravagant His kingdom was being devoured by his powerful Mandalesas, whom he was unable to control Bhīma was thus filled with anxiety about the fate of his kingdom One night a glorious and splendid god the spirit of his grandfather Kumārāpāla appeared to him in a dream and said that in order to restore order and to prevent dismemberment of the kingdom and to save the Jain faith which was almost sinking, he should make Lavaṇaprasāda son of Arnorāja, son of Dhavala, to whom he had given the principality of Bhīmapalī his Sarveśvara and make his son Viradhavala his Yuvaraja Viradhavala then requested king Bhīma to give him good counsellors Bhīma said that there served in this realm, Chandapa fiery in splendour, of the Porāda lineage His son was Chandaprasāda His son Soma, who served under Jayasimha acknowledged no master but king Siddharāja

(1) सारस्त्यायुतमहाविष्णुर्गिरेन्दोर्भवाऽरिर्निहसुक्वे कवितारहस्यम् ।

किञ्चिद् सञ्चितमहमहल च किञ्चिद् व्याख्यास्यते । इतिहास्यकृतस्य ह्ययम् ॥

काव्यकल्पतरुः [—] ।

Jayasimha and no god but the lord of the Jinas His son Aśvarāja who made the universe splendid with his glory made seven pilgrimages in order to escape seven hells His wife Kumāradevi though eminent in the Jaina religion also had faith in Śiva They had three sons—Malladeva Vastupāla and Tejapāla Bhīma then gave Vastupāla and Tejapāla as Virādhavala's counsellors and said to him that his heroism which will have sight with these two as eyes may now trample down his enemies by searching them out The two ministers should fulfil also the message of Kumārāpala—the glorification of the Jaina faith This account though it materially differs from that given by Someśvara in this Kīrtikaumudī agrees with that in the two other contemporary works (1) Jayasimha's Vastupāla Tejapālaparāśasti and (2) Udayaprabhā's Suktakīrtikālolūf Vastupāla's own words should have, however more weight in this respect In the Naranarāyaṇānanda he calls himself as the high minister of the Gujarestara and in its last canto he says that he accepted the dependence of the high ministership of Bhīma the lord of Gujarat for the incessant occurrence of the festival of faith without any obstacle which is sweet on account of its splendid power¹ Bilchandra's account however agrees with that of Someśvara

In the fourth canto Arisimha says that Virādhavala with the help of his ministers conquered the earth and put down all wrong and violence Tejapāla then requested Vastupāla to keep in mind the king's command and support the Jaina religion Both approached their spiritual family preceptor Vijayasena Śūri of the Nagendragachchha On this occasion the succession of the priest of this gachchha is given (1) Mahendra Śūri (2) Śhānti Śūri and Amara Śūri who received from king Jayasimha the title—Tiger Cubs—as they had overcome proud disputants even in their infancy (3) Haribhadra Śūri (5) Vijayasena Śūri Vijayasena Śūri explained to them the religious merits of becoming a Saṅghādhipati Vastupāla resolved to do so

In the fifth canto are described the preparations for the great pilgrimage Narachandra Śūri of the Mahādharī gachchha and spiritual adviser of Vastupāla on his mother's side, Jina Jatta Śūri of the Vāraṇa gachchha Śānti Śūri of the Saṅgeraka gachchha and Vardhamāna Śūri of the Gallaṅka people were among the notable śāchāryas who accompanied Menti in his mode of a halt at ħāsahṭada in Jern Kāsandra and of the institution of a great festival in the temple of Rishabha

In the sixth canto we have a conventional description of the sun rise

In the seventh canto is described the ascent of the mountain and the devotional festivities After paying his respects to ħaparāhī Yakshī the presiding deity of the Tirtha Vastupāla entered the main temple of Śāntiśhā The Saṅgha stayed on the mountain for eight days

In the eighth the pilgrimage to Devapattana and Mount Girnar is described From Santruṅjaya the Saṅgha started to Devapattana for offering worship to Somanātha Thence it proceeded to Girnar A camp was pitched at the foot of the mountain and a festival was held Then follows the description of the worship of Nemunātha and the festival Having paid homage to Amālī, the presiding deity of the Jain temples on Mt Girnar and Śamba and Pradyumna who had obtained salvation here the Saṅgha descended after a stay of eight days

(1) યજ્ઞસમ્રાજ્યવસ્તુપાલ વિરાઠરાવવર્માના સમ્રાજ્યના સચિવના પદ પર

૨. મુદ્રાસહિતના સંસ્કૃત મુદ્રા સમ્રાજ્યવસ્તુપાલ પ્રતિ ૫ XV 135

In the *nīnā* is given a poetical description of the six seasons which the minister saw while descending.

In the *tenth* begins the return journey. The Saṅgha entered Vāmanasthali—the modern Vanthali, in all magnificence. When the procession reached near Dholka, not only Tejabpāla but Viradhavala came out with citizens to receive him. For a fuller description of the pilgrimage compare the last canto of the Dharmābhyudaya and the cantos eleven and twelve of the Vasantavilāsa.

In the *eleventh* canto the author describes the temples built and restored by Vastupāla.

In Anahilavāda Pattan:-

(1) The restoration of the temple of Panchāsara Pārsvanātha of Vanarāja.

In Cambay:-

(2) The erection of a golden staff and knob on the temple of Bhīmeśa.

(3) The erection of an Uttānpaṭṭa before Bhaṭṭāditya and of a golden wreath on his head.

(4) Excavation of a well in the temple grove called Vahaka of Bhaṭṭārka.

(5) The erection of a vestibule before the temple of the Sun-god Bakula.

(6) The restoration of the Maṇḍapa and of the temple of Vardyanātha.

(7) The erection of high-walled enclosures for the sale of sour milk to avoid contamination.

(8) The erection of two Upāsrayas.

(9) The erection of a drinking hall with round windows on two sides.

In Dholka:-

(10) The building of a temple of Ādinātha.

(11) The erection of two Upāsrayas.

(12) The restoration of the temple named Rāpaka of Bhaṭṭārka.

(13) The construction of a Vāpi.

(14) The erection of a Prapā.

On the Śāstrujaya Hill:-

(15) The erection of an Indramāṇḍipa before the temple of Ādinātha.

(16) The erection of the temples of Neminātha and Stambhana Pārsvanātha.

(17) The erection of a statue of the Goddess of Sarasvatī

(18) The erection of the statues of his ancestors.

(19) The setting up of three statues on elephants, his own, that of Tejabpāla and that of Viradhavala.

(20) The erection of sculptures representing four summits of Mt. Girnar, Avalokana, Ambā, Śimba, and Pradyumna.

(21) The preparation of a Torana before the temple of Ādinātha.

(22) The erection of temples of Suvṛya of Broach and Mahāvīra of Sīchor.

- (23) The erection of a Pṛsthapaṭṭa of gold and precious stones below the image of Ādinātha
- (24) The raising of a golden Torana
In the vicinity of Pālitānā
- (25) The excavation of a large tank
- (26) The erection of an Upāsraya
- (27) The erection of a Prapā
In the village of Ānkevaliyā
- (28) The digging of a tank
On Mt Girnar -
- (29) The erection of temples of Stambhana Parsvanātha and Adisvara of Śatruṅjaya
In Stambhana (Thamna near Umreth) -
- (30) The restoration of the temple of Parsvanatha.
- (31) The erection of two Prapās near the temple of Parsvanātha
At Dabhoi
- (32) The placing of golden capitals on the temple of Vaidyanatha as the old ones were carried off by the king of Malva and also the erection of an image of the Sun god
On Mount Abu -
- (33) The building of a niche of Mallideva (in Samvat 1278) for the religious merits of the spirit of his elder brother Malladeva

For fuller and more complete list of Vastupala's temples and works of piety public utility the reader is referred to Junaharsha's Vastupalacharitra

The date of the composition of the work—The *Sukṛtasankīrtana* was written before Samvat 1287 in which year the inscriptions on Mt Abu are dated and after 1278 the date of building a niche of Mallinātha on Mt Abu mentioned in the present work

Dr Buhler contributed a very valuable and exhaustive paper *Das Sukṛta sankīrtana* in the *Sitzungsberichte* of the Imperial Academy of Sciences of Vienna (Vol CXIX 1887) and an English translation of the German paper was published in the *Indian Antiquary* Vol XXXI (1902) pp 477-495 For a complete and critical study of the career of this one of the greatest minister Gujarat has ever produced one should read the *introductions* of the Naranārāyaṇānanda Vasantavilāsa and Hammāramadamardana in the Gaekwad's Oriental Series A photo of the statues Vastupala and his two wives will be found in the edition of the Naranārāyaṇānanda in the same series

कीर्तिकौमुदी-सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्ययोर्विशिष्टनामानुक्रमः ।

	शुद्ध		शुद्ध
मच्छोद (सरोवर)	की० ६	कादम्बरी (गयकाव्य)	की० ३
अजयदेव (अजयपाल चौलुक्यरूप)	सु० १०३	कान्यकुब्ज (जनपद)	सु० १००
अजयपाल (चौलुक्यरूप)	की० ९	कालिका (देवी)	सु० १०२
अणद्विलपाटक (गुर्जरराजधानी)	सु० ९६	कालिदास (कवि)	३४, १३३
अणद्विलपुर (गुर्जरराजधानी)	की० ५	काशि (काशीपुरी)	की० ५
अणद्विलपुरी (गुर्जरराजधानी)	सु० १३३	कास्यद्वन्द्व (प्राम)	सु० ११२
अनुपमा (त्रेकपालवती)	की० १४	कुङ्कुणेश (कोङ्कणरूप)	की० ८
अनूप (रूप)	सु० १०३	कुमार (गुर्जरराजपुरोहित, सोमेश्वरदेवपिता)	की० ११
अमिनन्द (कवि)	की० ४	कुमारदेवी (वस्तुपालमाता)	१४, १०६
अम्बुदर्यासिंह (भट)	की० २५	कुमारपाल (चौलुक्यरूप)	८, १०२, १०४, १०६
अमरपण्डित (कवि) सु० ९९, १०४, १०७, ११०, ११४, ११७, १२१, १२४, १२९, १३३, १३६		कुमारपुत्र (सोमेश्वरदेव)	की० १०
अमरसुरि (नागेश्वरचौधरी)	सु० १०८	कुर्लसिंह (भट)	की० २५
अम्मा (रैवतशिखर)	सु० १३४	कौङ्कण (जनपद)	सु० १०३
अरिसिंह (कवि) सु० ९९, १०४, १०७, ११०, ११४, ११७, १२१, १२४, १२९, १३३, १३६		कौरवेश्वर (दुर्वाधन)	की० ५
अर्कपालितक (प्राम)	सु० १३५	क्षेमराज (चाणोत्तररूप)	सु० ९८
अर्णोराज (सपादलक्षरूप)	की० ८	खड्गार (गौराद्वार)	की० ८
" (चौलुक्य)	९, १०४	गङ्गा (नदी)	की० ५
अर्जुन (पर्वत)	सु० १३५	गजाक्षय (हस्तिनापुर)	की० ५
अर्जुनाचल (पर्वत)	की० ९	गलक (गच्छविशेष)	सु० १११
अयलोकना (रैवतकतिहार)	सु० १३४	गङ्गा (गीष्मपितामह)	की० ५
अश्वराज (मन्त्री, वस्तुपालपिता)	१३, १४, १५, २३, १०६	गुलकुल (वनविशेष)	की० २४
आनन्दसुरि (नागेश्वरचौधरी)	सु० १०८	गुर्जर (गुर्जरदेशवासी)	की० ११, १२
आमरामा (गुर्जरराजपुरोहित)	की० ११	" (जनपद)	सु० १३१
आहद (चाणोत्तररूप)	सु० ९९	गुर्जरघरापिपराजधानी (अणद्विलपुर)	की० ११
अन्नमण्डप (स्वायत्तविशेष)	सु० १३४	गुर्जरपुर (अणद्विलपुर)	की० ११, १३
अजयपत्त (रैवतक)	३९, १३४, १३५	गुर्जरराज (गुर्जेश्वर, नीमदेव द्वि०)	की० १८
कच्छ (जनपद)	७, १००	गुर्जरराज्यक्षत्री (गुर्जरराज्याधिष्ठात्री देवी)	की० १०
कपर्दी (यत्)	३८, ११८, १३४	गुर्जरेन्द्र (गुर्जरदेशसामाजी)	की० ११
कर्ण (अश्वराज)	की० ५	गुर्जरेश्वर (गुर्जरदेशसामाजी)	की० ७
" (बर्गदेव, चौलुक्यराज)	की० ७	गोदद (जनपद)	की० १९
कर्णदेव (चौलुक्यरूप)	सु० १०१	गौड (गौरदेशाधिप)	की० ८
		घण्डप (मन्त्री, प्रागाट)	१३, ३९, १०६, ११७
		घण्डप्रसाद (मन्त्री, चण्णपुत्र)	१३, १०६
		घम्पा (नगरी)	की० ५
		घाणक्य (श्रीशिव)	की० १३, १४, २५
		घाचिगादेव (भट)	की० २४

	पृष्ठ		पृष्ठ
सङ्ग्रामसिंह (शङ्ख, सिन्धुराज)	२४, २५ १०७,	सिन्धुराज (शङ्ख, सम्राजसिंह)	सु० १३३
	१२४, १२९	सिन्धुराजसूनु (शङ्ख सङ्ग्रामसिंह)	की० २०, २१
सण्डेरकमच्छ (श्वेताम्बरराज्यविशेष)	सु० १११	सिन्धुराजात्मज (शङ्ख सङ्ग्रामसिंह)	की० २३
सत्यपुर (नगर)	सु० १३४	सीता (पन्डितमोमपत्नी अधिराजमाता)	की० १३
सपादलक्ष (जनपद)	सु० १०३	सुभट (कवि)	की० ४
सरयू (नदी)	की० ५	, (सेनानायक)	की० ९
साकेत (अयोध्या)	की० ५	सोम (मन्त्री अधिराजपिता)	१३, २५, ९९, १०६ ११०, १३१
सामन्त (भट)	की० २४	सोमनाथ (ज्योतिर्लिङ्ग)	४१, १०० १०२ १२१
सिंह (वृष)	की० २१	सोमसिंह (भट)	की० २५
सिंहवन (वृष)	की० १८ १९ २०, २२	सोमेश्वरदेव (गूर्जरराजपुरोहित)	की० ५, १०
सिताम्बर (श्वेताम्बरजनसंप्रदाय)	सु० १०८	सौराष्ट्र (जनपद)	की० ८ ४१
सिद्ध (सिद्धराज जयसिंह)	की० ६	स्तम्भतीर्थ (नगर)	१७, १३३, १३६
सिद्धराज (जयसिंह)	की० ८ १३	स्तम्भन (तीर्थ)	सु० १३४ १३५
सिद्धपर (सरोवर)	सु० १०२	हिमालय (पर्वत)	की० ५
सिद्धेश (सिद्धराज जयसिंह)	की० १३	हरिभद्रसूरि (नागेन्द्रराज्य)	सु० १०८
सिद्धाधिपति (सिद्धराज जयसिंह)	सु० १०६	हरिहर (कवि)	की० ४
सिद्धेश्वर (स्वयंविशेष)	की० २१	हेमसूरि (कविद्वयसर्वज्ञ सर्वतन्त्र- स्वतन्त्र आचार्य)	की० ४
सिन्धुपति (सिन्धुजनपदवृष)	की० ८		

द्वितीय परिशिष्ट ।



श्रीअरि सिंहविरचितं

सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्यम् ।



[पृष्ठाङ्क १६-१३६]

	शु०	शु०	शु०
चापोत्कट (राजराज)	शु०	९६	नरचन्द्र
चामुण्डराज (चौलुक्यवश)	शु०	७,१००	नरचन्द्रसूरि } (कवि नागेश्वरगच्छविशेष) की० ४,१११
" (चापोत्कटवश)	शु०	९८	नरवर्मा (भाराधीश)
षाहमान (राजराज)	की०	४	नीलकण्ठ (कवि)
शुलुक (राजराज)	की०	२०	नागेश्वर (श्वेताम्बरगच्छविशेष)
शुलुक्य (राजराज)	१९,२०,१०४		पञ्चाक्षर (जिनमन्दिर)
शुलुक्यभारता (चौलुक्यवश वीरपवल)	की०	२६	पत्तन (अगहिलपुर)
शैष (राजराज)	की०	११	पम्पा (सरोवर)
शौलुक्य (राजराज)	७,२२,९९		परमार (राजराज)
शौलुक्यचन्द्र (वीरपवल)	की०	२५	पादलिप्तपुर (नगर)
शौलुक्यनृप (वीरपवल)	की०	२३	प्रतापमह (चौलुक्यसेनानायक)
शौलुक्यवश (राजराज)	की०	९	प्रद्युम्न (रितशिलर)
शगर्ज्जम्पन (बभभराज-विम्ब)	७,१००		प्रभास (तीर्थविशेष)
शगर्देव (प्रदीपार)	की०	११	प्रह्लादनदेव (कवि लक्ष्मि)
शयन्त (भट)	की०	२४	श्रग्व्याट (वगविशेष)
जयसिंह (चौलुक्यवश, विद्वाराज)	८,१०८		शकपाटक (नगर)
" (वस्तुमानुष)	की०	१४	शकुल (पङ्कजेश्वर-सूर्यमन्दिर)
भ्राह्मल (जनपद)	की०	८	शर्यर } (राक्षस)
लाङ्गलेश (जाङ्गलदेशानुपति)	९,१०३		शर्यर } (राक्षस)
सामदान्य (परशुराम)	की०	९	यलाल (रूप)
दिनदत्तसूरि (वायव्याच्छीव)	शु०	१११	बाण (कवि)
रायी (नदी)	की०	१९	वारय (सेनानायक)
सुरक (शक्तिविशेष)	शु०	१०३	विन्दहण (कवि)
सुरकापिपति (सुरकाजातीयवश)	शु०	९	महादित्य (सूर्यमन्दिर)
सैज.पाल (मन्थी वस्तुपालानुष)	१४,१०६, १३०,१३४		भारवि (कवि)
त्रिपुरी (नगरी)	की०	५	भोम (चौलुक्यवश, प्रथम)
दक्षिण (जनपद)	की०	९	" (चौलुक्यवश, द्वितीय)
दक्षिणेश्वर (दक्षिणदेशापिपति)	की०	१८	भीमदेव (, ")
शरक (?)	की०	४	भीमपल्ली (भय)
वर्नाशनी (नगरी)	शु०	१३५	भीमेश्वरेश्वर (शिवमन्दिर)
दुर्गेश्वर (चौलुक्यवश)	७,१०१		भुवनपाल (यन्)
देषपत्तन (नगर)	शु०	१२१	भुवनसिंह (भन्)
धनपाल (कवि)	की०	३	भूमट (चापोत्कटवश)
धवल (चौलुक्यवश, अगौराश्रयिता)	९,१०४		भृगुकच्छ (शय्य)
धवलकपुर (नगर)	शु०	१२९	भृगुपुर (शय्य)
धवलक (नगर)	शु०	१३७,१३४	भोज (पाराशरपति)
धारा (नगरी)	५,८,१०१,१०२		भयुरी (नगरी)
धाराधीश (पाराशरपति)	की०	९	भद्रपञ्च (शय्यनगरी)
नङ्गलनायक (लक्ष्मि)	की०	९	भद्र (जनपद)
			भद्रभूप (भद्रजनपदलक्ष्मि)

	पृष्ठ		पृष्ठ
मद्भद्रैव (मन्त्री, वस्तुपालप्रज)	१४, १०६, १३५	बलभरान्न (चौलुक्यनृप)	७, १००
महिकार्जुन (नृप)	की० ९	वसन्त (वस्तुपाल)	सु० ११४, १२८, १३६
मद्दो (नदी)	की० १९	वसन्तपाल (,,)	सु० १०७
मद्देन्द्रसूरि (नागेन्द्रगच्छीय)	सु० १०८	वस्तुपाल, वी (धवल-महामन्त्री)	४, ५, १४, १६, १७, २६, २७, ३४, ३७, ३८, ३९, ४१, ४२, ९९, १०३, १०४, १०६, १०७, ११०, ११४, ११७, १२१, १२४, १२८, १२९, १३०, १३१, ३१३, ३१३, ३३५, ३३६
महोष्कपति (महोष्कनगरनृप)	की० ८		
माघ (कवि)	की० ३, ४	सदृक (वन)	सु० १३३
मानस (सरोवर)	की० ६	शामनस्थली (स्थलविशेष)	सु० १२९
मालव (जनपद)	७, ८, १००, १०१	शम्भुदेवगच्छ (श्वेताम्बरगच्छविशेष)	सु० १११
मालवेष्ट (मालवप्रति)	सु० १३५	शाल्मीकि (आदिकवि)	की० ३
मिथिला (नगरी)	की० ५	शिकमासिंह (भट)	की० २५
मुञ्ज (धारापीथ)	की० ४	विजय (भट)	की० २५
मुञ्जालसुत (मन्त्री)	की० ११	विजयसेन (कवि नागेन्द्रगच्छीयआचार्य)	सु० १०८
भूलराज (चौलुक्यनृप, प्रथम)	७, ११, ९९	विदिशा (नगरी)	की० ५
(चौलुक्यनृप, द्वितीय)	९, १०३	विन्ध्याचल (पर्वत)	सु० १०२
यदु (यदुवशीय)	की० १९, २०	विमल (शत्रुघ्नपर्वत)	सु० १२०, १३५
यमुना (नदी)	की० ५	विमलगिरि (,,)	सु० ११७
यसोधर्मा (धारानृपति)	सु० १०२	वीर (वीरपत्न)	की० १७, १९, २५
यसोधोर (कवि, मन्त्री)	की० ४	वीरधवल (चौलुक्यवशीयनृप, लक्षणप्रसादनृप)	१०, ११, १२, २३, १०५, १०६, १०७, १३०, १३१, १३३, १३४
यादवेन्द्र (सिद्धनृप)	की० १८		
यादवेन्द्र (यदुवशीयनृप)	की० २१	वीरनृप (वीरधवल)	की० २३
योगराज (चापोत्कटनृप)	सु० ९८	वीरभूपाल (वीरधवल)	की० २८
रत्नादित्य (चापोत्कट)	सु० ९८	वीरम (भट)	की० २४
राष्ट्रकूट (राजपत्न)	की० ११	वीरनाथशिवलक्षण (शिवमन्दिर)	सु० १३३
रिवतक (पर्वत)	३९, १२२, १२३, १२९, १३५	वैद्यनाथलदन (,,)	सु० १३५
लक्ष (कच्छनृपति)	७, १००	वैरिसिंह (चापोत्कटनृप)	सु० ९८
लक्ष्मदेव (नृप)	की० २१	शङ्कु (शिन्धुराज, लक्ष्मणसिंह)	२०, २३, २४, २५, ११०, ११४, १२१, १३६
लडा (नगरी)	की० ५	शत्रुघ्नय (पर्वत)	३८, ११२, ११३, ११७, १२०, १३४, १३५
ललितादेवी (वस्तुपालमन्त्री)	की० १४	शाकम्भरि (जनपद)	की० ८
लक्ष्मणप्रसाद (चौलुक्यवशीय)	१०, १८, २०, २५	शान्तिसूरि (नागेन्द्रगच्छीय)	सु० १०८
लक्ष्मणप्रसादपुत्र (वीरधवल)	की० २०	(शम्भेरकगच्छीय)	सु० १११
लक्ष्मणसिंह (कवि अरिर्षिहपिता)	सु० १३३	शाम्भ्य (रिवत-शिवारविशेष)	सु० १३४
लाट (जनपद)	की० १९		
लाटेश्वर (लाटजनपदप्रति)	की० ७		
लावण्यप्रसाद (लक्ष्मणप्रसाद)	९, १०५		
लावण्यसिंह (सेत्र पालपुत्र)	की० १४		
(लक्ष्मणप्रसाद)	सु० १२४		
पटकूप (सरोवर)	की० २३		
घनराज (चापोत्कटनृप)	सु० ९८, १३३		
घनराजदेव (,,)	सु० ९६		
घडेमान (आचार्य, गल्लकगच्छीय)	सु० १११		

विषयानुक्रमः ।

१. चापोत्कटान्वयवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।
२. चौलुक्यान्वयवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ।
३. मन्त्रिप्रकाशो नाम तृतीयः सर्गः ।
४. धर्मदेशनो नाम चतुर्थः सर्गः ।
५. सहप्रस्थानो नाम पञ्चमः सर्गः ।
६. सूर्योद्भववर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ।
७. शत्रुञ्जयदर्शनो नाम सप्तमः सर्गः ।
८. नेमिदर्शनो नाम अष्टमः सर्गः ।
९. पङ्कतुवर्णनो नाम नवमः सर्गः ।
१०. पुरप्रवेशो नाम दशमः सर्गः ।
११. सकलकीर्तनकीर्तनो नामैकादशः सर्गः ।

प्रथमः सर्गः ।

वनराजः

- श्रवेन्मविस्मयमयप्रसन्नप्रतापश्चापोंत्तटा वयस्रैरुहरिनेरेन्द्र ।
भासांदिसीमचरित परितत्तदात्नुभालापिताइत्रिनलिनो वनराजदेवः ॥ १ ॥
- यत्खत्तस्त्रिडितविरोधिशिरोऽधिरकसोतस्विर्नाभिरदधिर्विदधे ससाम ।
येनाऽयुनाऽध्यरणता भजतस्तदङ्गसम्पर्नेतोऽर्क शशिताबुदयक्षणेपु ॥ २ ॥
- निर्गन्ध कोशकुहरादसिदन्दगुरु, श्यामो यथागतमगात् त्वरितं यद्वैश्व ।
एतेषु मास्म प्रिग्देष परैरितीव, रक्षेपु वस्त्रविप्रेषु कराङ्गुलीभि ॥ ३ ॥
- खट्वाङ्गसङ्गतकरस्तरवारिलग्रकृत्तारिसुण्डमिपन समराङ्गणे य ।
भालापिसोपितहुताशनचण्डचशुराभाद्रिभासुरविरोधिभिमानुस्र्या ॥ ४ ॥
- तेनं कृत्तान्तसमता रसनासनाभि धारोद्गुरो यदसिरञ्जनमञ्जुलश्री ।
अहाय्य यस्य युधि दर्शनसंजयैव, भिन्दन्नरीनधित किङ्करता कृत्तान्त ॥ ५ ॥
- स्तन्वप्रकम्पितविलीनविप्रेर्णगात्रै, श्वितैर्विभङ्गुररवस्फुरदश्रुलेदाम् ।
उमुच्य पौरुषमवाप्य च भीरुभाव, य सेज्यते रिपुभिरुत्पुलकै प्रसन्न ॥ ६ ॥
- आरुर्ग्य तूर्णमुपकर्णयितुं च यस्य, कीर्तिं मुहुर्मुज्जगभोरुगणेन गीताम् ।
चक्षु श्रवा रसवशेन दृशा निमेषोन्मेषक्रियामनिमिषोऽपि चनर शेष ॥ ७ ॥
- बन्धीकृते धनुषि मौक्तिकताडपत्रज्योस्नाम्बुमारमति पञ्चलता दधाने ।
यस्याऽऽनन विक्रवाजिरिक्कम्पन्तर्मेजे विहाय परराजकरात् जयश्री ॥ ८ ॥
- श्रीमत् पुर सुवि पुरन्दरपत्तनाभ, तेनाऽऽश्चेऽण्डिलपाटक्रुनामवेयम् ।
खीगा मुखे स्मरतपत्खिवनेऽजनीन्दुपप्रश्रियोस्सुहृदोरपि यत्र योग ॥ ९ ॥
- धन्तर्षसद्वनजनादमुत्तमारतो मूर्मा भ्रस्यतादिति शृश वनराजदेवः ।
पञ्चासराहनवपार्श्वजिनेशवेश्मन्याजादिह क्षितिधरं नवमाततान ॥ १० ॥

- यस्मिन् सदैव निकृताणि निकेतनाप्र-जाग्रन्मगिबुक्तिभौर्नितमां समांसि ।
आरामकालिमिषेण बहि-स्थितानि, तानि प्रसर्पद्वरघट्टरै रटन्ति ॥ ११
- जाड्यं जनेषु रजनीजनितं विमिन्द-श्रुदीपयत्रपि दिवाकरकान्तचुड्डीः ।
जालान्तरागतकरस्तरगिर्दिशाऽपि, यस्मिन्नभूदनुगृहं ननु सूषकारः ॥ १२
- यस्मिन् विलाससदनेषु विलासव्ययः, पत्युः करेऽपहृतकव्यथरोचरीयम् ।
रत्नप्रदीपविफलीकृतफूलस्त-त्रेत्रे निर्मील्य सुसती दपतेऽन्धकारम् ॥ १३
- पर्वक्षणे न खलु निश्चिनुते दिनेषु, सूर्यं सुवर्णसुरसन्नकिरीटकुम्भैः ।
यत्रोन्ननालगशिरःपुरयोपिदाल्यै-र्नैव क्षिपोपतिमपि क्षणदासु राहुः ॥ १४
- सङ्कोचिताम्बुजकुलोऽपि हतार्ककान्त-न्नीडोऽपि पङ्कितग्याङ्गपुटुम्बकोऽपि ।
प्रातः प्रयाति विद्युहम्बल एव यत्र, सौवावनिस्खलितवामनि धामनाये ॥ १५
- रुद्धेऽपि यत्र महदम्बनि वारिवाहै-लोकः सदा नियममानुविलोकभोजी ।
पूर्वाद्रिमौलितमेव गृहाधिरोहा-दुर्कं विलोक्य लग्नि व्यवसायवीथ्याम् ॥ १६
- यत्र प्रतिक्षणविद्युद्वरसातिरेक-निष्कम्पदम्पतिकदन्व-ङ्गकैतवेन ।
रत्या सहाजनि निकाममनेकमूर्च्छि-रेकाङ्गमोहनरसैः स्मृतिभूरतुतः ॥ १७
- यत्रोच्चसौधभुवि सन्धकारासपिण्डविश्रम्भिणां गगनसिन्धुजलद्विषानाम् ।
कुम्भान् विनूयन्ति भीरुगणः स्वभाल सिन्दूरपूलभिरसन्धकरोदृताभिः ॥ १८
- यस्मिन्नुपयुपरि गन्धुमश्रुवन्तो, दूरेण सूहुरगाः परितः स्फुरन्तः ।
उच्चैर्विशालभगिसालगतस्वन्निम्ब स्पद्मन्दुतैर्दिनमिति धन्मिणयन्ति ॥ १९
- चेद् योग्यताऽस्ति परिरां पिव मे त्वमेहि, विन्ध्योऽयुदञ्चतु मयाऽपि हतोऽर्कमार्गं ।
यत्रेति केतुपटङ्किङ्किणिकारवैः खे, यत्रो वदत्युदधिपामिन्मप्यगस्तिम् ॥ २०
- मन्त्राकिनौ विर्यानि वृहद्विशालसाल-रोषद्विधाप्रसमरा परितः स्फुरन्तौ ।
शङ्के सुराधिपतिनिग्रहविग्रहाय, यत्रान्तरालपरिखाश्रियमादधाति ॥ २१
- भूमनानि भूमिधरभामुरसालगिति-भागेषु मारविद्यगण्यभितोऽपि यत्र ।
न्योमापगाजन्मजप्रतिमानसीम-निर्ममश्रुन्तहृत्तिलम्बनिभानि भान्ति ॥ २२
- यद्यन्वेस्मपरितार्जनिकारजोभि-र्दूरोऽपितैरुपवतावनित्रोपभीया ।
अञ्जलिहो जगति य. पटुरत्नवर्भे, कूटं क्रियाजनि जनेषु सुल्लसातु ॥ २३
- यस्मिन् जवाय मगिबेदमदिमाविमिज-न्वान्तोऽक्षरेऽपि कथयन्ति विमानमायम् ।
लीलासरोवरसरोरुहिणीविकाश-सौरम्यलुम्बदलिनीकृल्लूजितानि ॥ २४

सत्यभमेज दृत्तकानि गृहेषु हृत्वा, हृत्तव्यरूपकरानि विशीर्णदन्त ।
 सत्यायपि प्रतिभयेन न तानि हृत्ति, सम्प्राप्तधर्म इव यत्र बिडालकोऽपि ॥ २५
 यदानिदानमुदितेन वनीपकेन, लभ्य प्रभूतमुकृतै कथमन्यवाप्त ।
 छाया विभूषण पयोऽर्षणहेतुरेव, देवद्रु-स्न तुरगाविभवोऽपि भजे ॥ २६

योगराजः

तत्रावनीनिसुरगृह वनराजरा य-राजीवभानुरिवर्गवनीवृशानु ।
 श्रीयोगराज इति यस्य स्राज पाणि पत्रेऽन्विपशुभगा भ्रमरैव मूमि ॥ २७
 यस्यासिधेनुफलके नवनागवलि पत्रोपमे मुखमुपेयुषि भूमजङ्घ ।
 सयस्करकरसनैरभिर्वारण्या-माप्लिष्यते स्म जगती नवमोहनेन ॥ २८

रत्नादित्यः

भार मुचो मुजमरेण यभार रत्ना-दित्यस्तत शिनिपमण्डलमौलिरानम् ।
 चण्डासिदण्डदलितोऽतरावनीभृ इदालिविष्कुरितमौत्ति कृन्त्यफाचिं ॥ २९
 भादेशपत्रमिव यत्तरवारिदण्ड, वीहयैव दण्डधरवण्डधराधिपस्य ।
 चक्रे प्रयागक्रमरानिरेन्द्रवर्ग, स्वर्गं प्रति त्वरितमद्रमुनमीतिगावात् ॥ ३०

वैरिसिंहः

दुर्धारवारणपटो रुद्रवैरिसिंह, श्रीवैरिसिंह इति भूदयितस्तनोऽभूत् ।
 य-कूर्तिकातिचिन्देपु जगमु पाणि-स्पर्शेन च द्रमसगाकृत्यपत्ति तारा ॥ ३१
 प्रत्यर्षिपार्थिनमग समगदणेषु भ्रान्त्वानिर्भाषतरणिधुनिभारतुयै ।
 ततो महोभिरिव यस्य श्पागण्डि धारागृह-यनिकान्यसनी बभूव ॥ ३२

क्षेमराजः

श्रीक्षेमराजवृषतिर्वसुधा मुधाशु-व्येत्त्नासमु-वल्यशा प्रशशास तस्मात् ।
 यस्यासिबद्धिरिभुभविचन्द्रम-सुत्त-कृत् मुमुमिता कृत्ता जयन ॥ ३३
 धूमिभवददसिपट्टितवर्तत्र, कोपान्त किमपि यदय दृदि प्रदत्त ।
 प्रत्यर्षिपार्थिवचमृमागीस्तमूह-वाष्पासुभिर्दृग्मयै शमयान्वभूते ॥ ३४

चामुण्डराजः

विश्वपशु तुनुकरुदुक्तामिण्ड-श्यामण्डराज इति सजयति स्म नामात् ।
 पूर प्रसर्पति यदीयय-स्तत्या, दूरादमजतुदुप सत् तागक्रीधै ॥ ३५
 निर्धन् पयोमयपयोधिज्जात घनात्, दीप्यामिनो गति दस्य यग प्रकाशम् ।
 अषापि नापतति पारमिति प्रसर्पन्, लोकान्तरैर्यगै स्तपितो मुगति ॥ ३६

आहटः

भासीत्रय प्रमल्यत्रयश शशाङ्क-श्रीराहुराहट इति शिनिजीवितेगः ।
 निर्योडितोऽद्रमुत्तगदीभक्त्याङ्कलौ-मैमः शशी क्रिन् तदीयमश ससुदे ॥ ३७
 यत्कीर्तिमेव धवलामवलोक्य लोके, लोकोऽयमन्वहमग्न्यत पूर्णमासीम् ।
 एतां पुन सततमाननि चन्द्रचारं, परयन् ब्रह्मतिथिविनर्कमनापदर्कः ॥ ३८

भूमटः

श्रीभूमटो रिपुमटोच्चयभेदरक्त-प्रोडासपट्टमित्त्वहलतस्ततोऽभूत् ।
 दिक्कुन्मिनुम्भमिपदिम्बनिताकुचाप्र-क्रांडानिगृह्यलथया जगर्तामुजङ्गः ॥ ३९
 दानच्छटामुरभिजीतलद्विभ्रेणु-श्रीराचलश्रवगतान्महत्तरङ्गैः ।
 यत्कीर्तिमन्वहमिलामविलासरिना, दिग्योषितो जल्पिसीमनि दीनयस्ति ॥ ४०
 हरहसितसितानि तानि तन्व-जननुमानि जगत्प्रथमदासि ।
 चिरमयमवनि शशास भास्व-चस्तरवारिनिवारितारिवर्गः ॥ ४१

क्रिय-

दीर्घाद्युर्भवतादिति द्विजवैश्रैलापुस्त्रिदन्वहं,
 बन्दीन्द्रैरजराभरेति च कुल्लरीभिरुवमाडास्यसे ।
 श्रीमन्नीचर वस्तुपाल ! निमपि भूमस्तु निस्तारिणी,
 कीर्तिर्व्यति यायदेव दिवि ते तावद् भवान् नन्दताव ॥ १
 उद्भान्तै सहसा पिनाकचलने क्षीरार्णवेऽद्वाना-ज्ज्वालै रगृह्यगप्रमनप्रारम्भसंग्मिनी ।
 लधे रावगनाशभासुरतैरेगिर्गोविर्भौ, श्रीमोमान्वयजोऽयमर्गुलजशोगीररस्पद्वया ॥ २
 जैन क्रिलेनं जगद् दिव्येऽपि, धीवन्तुपालः सचिन्स्तु भक्तः ।
 शङ्कार गृहीते शुचिकीर्तनी-रसित्तापद् भोऽन्वर्त्तनीग्राम् ॥ ३
 सदा प्रसादोन्मुखस्तुपाल-दरपातपीयूषसातुसारम् ।
 अमुं प्रबन्धं प्रतिवादिदन्ति सिंहोऽऽरिर्निहो रचयाञ्जना ॥ ४
 प्रतिसर्गप्रबन्धेऽस्मि-श्रितिसिंहप्रतिनिर्भने । इमाग्यरत्न च वाग्, फाल्ग्वान्धमरपण्डितः ॥ ५
 ॥ इति श्रीसुकृतसङ्कीर्तननाम्नि महाकाव्ये चापोत्कटान्वयवर्णनो
 नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥



मूलरानः

परेऽथ तरयाननि भागिनेय, चाण्डुसयंशान्दरार्णवम् ।
 श्रीमूलरानः प्रतियुग्यान समुत्तिर्गुणवदम् ॥ १

तथाऽस्य तेजोभिररातिजाति-रवाप तापव्यसनं वनान्ते ।	
यथा हिमान्म कणसङ्गमज्ञे, दवस्फुलिङ्गेषु लग्नु मेने ॥	२
सुन्यक्तमकि प्रतिसोमवार, य सोमनाथं प्रणिपय वीर ।	
तद्गालनेमानलचन्द्रमामि र्भमार तेजश्च यथाश्च पुष्टम् ॥	३
सम्पूर्णगक्तित्रयसम्भवा य, अम्भुर्यद्वैवगृह्णलेन ।	
कीर्तिखिधा मूर्त्तिमती पताका-हस्तैर्नटन्तार्थयाञ्चकार ॥	४
विजित्य य मयनि कन्यकुब्ज-महीभुञ्जो वारपदण्डनाथम् ।	
जहार हन्तिप्रकर क्राराप्र-मूकारसदीपितपौरुषामिम् ॥	५
न भूभूत केऽपि यदप्रमाणे, भेजुर्गुरुत्व किञ्च साऽपि मग्ना ।	
अद्वयता यत्तवारिवारि निधौ दधौ कच्छपलसुसेना ॥	६
स्वर्गं जिगीषुधरणाप्रलम्-मार्ति विधूय प्रबलप्रताप ।	
महो महीयानसहिष्णुर्यद्, त्रिभेद मानोरपि मण्डल य ॥	७

चामुण्डराजः

स्मात्स्रग्मास्रण्टलनण्डराक्ति-श्यामुण्डराजः प्रदाशारा तलात् ।	
द्विधा मुख कण्डुमसूनिवान्त, कृता तनाहुर्यदसिर्विवेश ॥	८
अजसमसैर्वेगपादपाना, दस्यारिवारीभिर्कारि सेक ।	
सान्द्रच्छदच्छायतया महान्त-स्तान्म्योऽपि ते प्रच्युपतुर्वेते स्म ॥	९

बहुभराजः

तस्माद् भुजङ्गेन्द्रमुञ्जो बभूव, भूयद्भ्रमो बहुभराजदेवः ।	
यत्कीर्तिदासां हतकौमुदीन्दु-मुखंभुजेन्धौ विशदोऽयमद् ॥	१०
अटनटव्या यदरातिवैशो, दरातिरेकोऽन्नतराजलेक ।	
रोगोऽप्यतिरुम्य परात्रमेग, हर्गन् दरीर्नन्दिरयाञ्चदार ॥	११
जटालनीलिर्धृगचर्मनासा, नि त्व फलादी वनमध्यबासी ।	
अन्यायदुग्द हृदि यं तपस्वी, सदाऽपि रूपस्थमरानिमूष ॥	१२
वचिन महोऽस्य भविष्यतानि, माले लिपि भान्द्रमूर्त्तिभर्तु ।	
आरुह्य बूडामगिनिम्यदग्भा-न्ललोप रोगी यदसिर्गदच ॥	१३
ऊर्ध्वरेषुवारातिचन्द्रसमूह प्रच्छादतोऽच्छृङ्खलसैर्येणु ।	
यो धैर्ययुयो जगति द्वितीया, दधौ जगन्मन इदमिग्याम् ॥	१४

दुर्लभराजः

अभूदथ न्यायपरः परली-सुदुर्लभो दुर्लभराजराजः ।	
यः कृष्णसाये कथितैः कर्बुन्दैः-र्वित्तित्य गोपीचरितं ललञ्जे ॥	१५
तमीदिने व्यकथयतो वित्तनु-र्यद्वैरिणः प्राप्य मंडीञ्चन्द्रम् ।	
तदौषधीदीपितमाप्रदोपात्, तमितमिश्रं पुनराप्रभावात् ॥	१६

भीमराजः

अथावनीशोऽननि शौर्यसीमा, भीमाभिधो येन युधि द्वियन्तः ।	
श्रीभीम ! श्केति हं स्मरन्तः, स्वस्थानबुद्ध्या मुदितेर्न मुक्ताः ॥	१७
वित्तस्यतो मालवभूमिभर्तु-भ्रष्टेऽशुके गुप्तशूत्रपस्य ।	
यत्सैन्यधूर्लीगिरिदृश्यवत्त्वा-म्नोऽनस्य भोजस्य हृदा न दीर्घम् ॥	१८
सर्वत्र सद्यारिषु यद्येषु, चरन्त्येषुऽरिनेन्द्वर्गः ।	
दरेण नदर्थैः पुत्रुन्दोऽपि, गुणाय कास्यै गणयाम्बभूवे ॥	१९

कर्णदेवः

श्रीकर्णदेवोऽथ वृषाखिलोक-दिलोकनीयसुनिरागिसासीत् ।	
यं पीत्य नारोहद्रथैकपासो-धिकं द्विषाऽभून्मदनोऽप्यनङ्गः ॥	२०
पूजासु पागिन्धितपुष्पमाल-मालोकयन् यं पुरतः पुरारिः ।	
कुदोऽपि पुष्पायुषयुद्धबुद्ध्या, भेजे भगानीहसितः प्रसक्तिम् ॥	२१
सम्पालयन्तो यदरीन् दरीषु, स्फुटं कुटुम्बिचत्वगता गिरिन्धराः ।	
अवापि दीर्घौषधिदीपदीप्ता, क्षपां सशङ्काः क्षपयन्ति शङ्के ॥	२२
जित्वा बलेर्माँलवग्मिपाल-मानतवान् यः किल नीन्द्रच्छम् ।	
तन्मैर्त्तिं सित्युप्रथिताम्बसत्यै, प्रैर्पाद् यदाः स्वं भुवनत्रयेऽपि ॥	२३

जयसिंहदेवः

बभार भूभारमथो जयश्री निकेतनं श्रीजयसिंहदेवः ।	
भाळे रराज प्रनिराजकस्य, राग्यप्रतिशानिद्रको यदङ्कः ॥	२४
यत्र शक्तिं रक्षति काङ्क्षति रम, धारा न यागधरधोरगीमान् ।	
न वैरिदवातिनतीकदन्धै-र्नैर्निर्दामाक एव श्लोकः ॥	२५
उत्तमदानप्रसरस्य यस्य, सस्यशोऽनुपपयोधिपस्ये ।	
कल्पदु-चित्तामगि-कामभेनु-वगोर्निरास्तापत मौक्तिकचम् ॥	२६

सवाहिसुर्वीमपि ये भुजेनान्वहं वहन्तः क्षितिषा न क्षिन्नाः ।	
क्षमालेशनेर्मूर्ध्नि पटैः क तेषां, खेटोऽस्तु यदद्वारि सवारिलेशैः ? ॥	२७
भुजेन यस्यासिलता प्रताप-कीर्त्ता प्रमूयाऽरमयत् कृतार्था ।	
उचै रवीन्दुदिककन्दुकश्री-शिन्पे वलान्दोलिनि विश्वत्न्पे ॥	२८
धृता चिरं या हृदये निरस्ता, सा कालिका यन्ननितप्रसत्या ।	
विलग्नद्विज्जैरकिणञ्छलेन, स्थातुं पपात द्विपतां पदेषु ॥	२९
यस्य द्विषां कण्टककूटफोटि-क्षतानि कान्तारजुषां तनूषु ।	
नन्यानि नित्यं घृण्णुपुराप-नवाङ्गनासङ्गनलाङ्कशोभाम् ॥	३०
इष्टैः स्पृतैरप्यपरैः प्रकृष्टै-ररक्षिता यस्य युधि क्षतेभ्यः ।	
धस्ताः श्वसन्तो रिपवः समस्ता, व्यस्तारयन् नास्तिकद्विष्टसृष्टिम् ॥	३१
जापि द्विषः प्रागकृतप्रहारा-नभिन्दताम्यचमृभटानाम् ।	
स्पर्शेन पतानपि यस्तुरङ्गान्, गङ्गाभंसि क्षालयति स्म कीर्त्तयै ॥	३२
यः सञ्चलन् वर्षैरखेचरस्य, स्फुरन्धोषिर्बुधो रचयाञ्चकार ।	
मुल्लश्रिया सेन्दु दिवाऽपि देह-घोतेन दोषाऽपि नमः सभातु ॥	३३
बदीमकारगृहनाय घारा-पतिर्यशोचर्मवृष-सिपेने ।	
कल्पैः सदा वाप्यपयोभिरुष्ण-धासैश्च कालवयमेककालम् ॥	३४
यन्कारितं सिद्धसरः तरत्त्वत्-माताऽपि पातुं घटन्तुशक्तः ।	
न प्राग्यगोभङ्गमयादुपैति, ष्टमैष विन्द्याचलवृद्धिरक्षा ॥	३५
धीसोमनाथोऽपि कृपैकपात्रं, ये मानुभक्त्यैरुशुचि विलोभय ।	
दक्षकतुनक्षशिम्बिन्द्रादि-पापोर्मिनिर्मुक्तमभ्यत स्यम् ॥	३६
विधं जगद् येन विनिय कीर्त्त-स्तम्मस्तथा कोऽपि महानकारि ।	
यथा हिमादेरिव यस्य मूर्ध्नि, नभोनद्री केतुपदं प्रपेदे ॥	३७
लीलापट्टनादिजनायकस्य, यथा कुमारस्य कथाप्रथमि ।	
विलजितो य सततं द्विजेन्द्र-स्थानप्रदानन्यसर्गो नरेन्द्रः ॥	३८

कुमारपालदेवः

तन्वययाहर्गमनं सुधाचूदं वृषाग्निगोष्ठीरसवसिनेऽरिमन् ।	
कुमारपालः क्रिड गूमिपाल, श्रियं मुनोष द्विषतां सरोपः ॥	३९
हृटाक्षरत्तं श्रियमन्त्रिणीनां, राजानमस्ते सति धामनाये ।	
यसो भटैर्यैः प्रकटै-र्वकापी-दमर्तृकर्षात्ममुक्तिष्यन् ॥	४०

मृगोः सुतेनेव जिन्स्य धर्ममुल्लास्य येन स्मितगार्गेण ।	
क्षतक्षमाश्रुतवर्मनैव, हंसैरिवाशोभि जगद् यशोभिः ॥	४१
सितांशुना कीर्त्तिनिर्जितेन, -मोस्तातित्थैर्कनिकीहृतेन ।	
न्यक्षेपि येनानुपुं विहार-च्छलेन खैरवहपदित् ॥	४२
मुषि स्वयं यः किल जाह्नलेशं, बली विजिग्ये किमु चित्रमत्र ? ।	
अनूपभूपो बगिजाऽपि यत्प्र, यतो जित- कीङ्कणचक्रवर्त्तौ ॥	४३

अजयपालदेवः

अथोरुधामाऽजयदेवनामा, रसं दक्ष शिनिमक्षतोजा ।	
न केऽपि कारातुहरेऽप्यरण्य-देवोऽपि नो यस्य ममुर्दिपन्तः ॥	४४
सपादलक्षप्रमुणा प्रदत्ता, रौक्मी बभौ मण्डपिका सभायाम् ।	
सेवागतो मेरुरिव स्थिरत्व-जितो मृशं यत्प्र कृत्रप्रतापः ॥	४५

पालमूलराजः

तदहजो दिग्गजदन्तशरणा-विश्रान्तकीर्त्तिं किल मूलराजः ।	
तुरण्डर्शामांघि शिशुर्जयथी-रुताफलानीम लसन्नगृहणात् ॥	४६
यस्मिन् सदोषे शिरसि प्रतीनी-महीमृति स्फारगन्धुगौ ।	
अस्व समस्तारिषदा शगाह-प्रतापचण्डद्युतिमण्डलाभ्याम् ॥	४७

श्रीमदेवः

श्रीमीमदेवोऽरित निरगलोम-भुजागंयप्रस्तसमन्शु ।	
पिञ्जत् फरे मूललय पयोधि-थेलामिठ्ठमौन्दिरुमस्य वन्दुः ॥	४८
भाजन्म सप्र बुसदा मदेक-क्षगप्रदानात् क्षयमेव भा गात् ।	
इति स्मरन् यः कनफामि दातु-मुन्मूलयामास न द्वेनरौल्यम् ॥	४९
यदानमथापि सदानुभूत-मेराथिभिर्मानिषु ऐचरीणाम् ।	
विडासहेमाद्रिषु मेरुपाद-भिषाऽऽनाना स्वगृहोमेकन्दे ॥	५०
सततधिनवदानदीगनि शेषदरमी सितमिनरुचिर्छर्निर्मीमभूमौलुब्ध ।	
बलरुचिभूमौमण्डले मण्डउंगे शिरमुपचिनचिन्नाचान्तचि तान्तगेऽमूर्त् ॥	५१

किञ्च—

स्वर्णेन शर्मा-मणय ! किमु पुरुनेन, सन्ता सुगकरदिग्गमु विसशुजासु ।
भूमि विभूषयत कोट्येपि न याचते यः, श्रीवृष्णपालवचिनः सनातनासु ॥ १

- श्रीवस्तुपालसचिवस्तुतिनि यरक्तान्, पुसरतथाऽयजदकिञ्चनता विरक्ता ।
मन्दैव दैववचसाऽपि यथा प्रयाति, न प्रातिनेस्मिन्किञ्चेतसुखेऽपि तेषाम् ॥ २
- श्रीवस्तुपालाभिधमन्त्रिभर्तुर्भूस्वन्देखेव तमालनीला ।
अभ्युल्लसन्ती जल्लाशिर्सीद्धि, रिपुप्रतापानलशान्तयेऽभूत् ॥ ३
- एनं प्रबधमयमुद्गरवादिदृष्ट्वा-वक्त्रागविन्दरजनीसमगोऽरिर्सिंहः ।
श्रीवस्तुपालचरितामृतसित्तुर्वाणि सवावदूकमुचित रचयाबकार ॥ ४
- प्रतिसर्गं प्रकन्देऽस्मिन्प्रसिद्धिर्निर्मिते । इमान्यवृत चरारि काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्तननाम्नि महाकाव्ये चौलुक्यान्यवर्णने
नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥



धीरधवलवंशवर्णनम्

- अथादृशि निशागणेषु, कृशाशेषनिभूतिना । स्वने कदापि भूपेन, कोऽपि श्रीमासुर सुर ॥ १
- धान्या धनुं न शक्योऽय मिवादिप्रतन्मीयुर । वामुके फणवद् विश्व-जलखरनजुपोऽङ्गुली ॥ २
- हारान्तपभ्रागस्य, प्रभारगमिवाद्भुतम् । अध परिदधद् वास, कान्तादृकोगशोप्ररुक् ॥ ३
- कराप्ररोपगार्त्तितैरसमानै समानताम् । लज्जितागूर्मिरारनैर्नैस्तान् पपदधेसुखान् ॥ ४
- सेवकेषु हृद्रेपिजये(य) दातुमियाऽऽवदन् । मुरचापवय दोम्यां, गलकङ्कणकृतिजम् ॥ ५
- प्रश्लक्ष्मणितेसू, प्रभासूच्छलादयम् । भुजोपार्चिष्मदुत्तालम्बालजालमुदघयन् ॥ ६
- लावण्यामृतपूर्णैश्चन्द्रिद्विदुकदम्बरत् । कल्पन्पुरसि व्यक्त, हारमुक्ताकलापकम् ॥ ७
- हृदतिन प्रसादस्य, प्रसादस्याद्भुतधियाम् । वैजयन्तीमिवानिभ-दास्ये शुभा मितपुतिम् ॥ ८
- फणोलपोरिवामात्तो, कान्तीरावर्षे विण्डिता । दधान कर्णयो स्वर्णं शर्णिङ्कसुगण्छरात् ॥ ९
- पणित स्फुरितभ्योतिर्नैटापटलपेशलम् । नौडौ नीलमणिं विभ्रत्, केजवन्त्यादिकन्दवत् ॥ १०
- निहृदिबिजुरज्योति-शैलकारोमिकोमला । दधदम्भिद्धमन्पात भ्रन्तधमरग्योःणी ॥ ११
- अथ पृथ्वीपतिं प्रीणितताकदमिवाऽऽज्जन । वचनामृतरीषीभिर्नैवोऽसावि यसिञ्चत ॥ १२
- राजा कुमारपालो ऽर्द्धमात्रस्वर्गवैभव । प्राप भिनामट्टनैःकट, स्नेह दुष्ये दधत् स्वयि ॥ १३
- सदर्पमर्षयिष्यामि, तवाऽहं राग्यवाहकम् । बस ! त्रियोस्वसे तेन, पचनेनैव पावक ॥ १४
- सुसुखयकुम्भकान्सार-गत्र श्रीधरपालाङ्गन । रिपुसर्पमुदगोऽभू-दर्णोराममर्हसुव ॥ १५
- यद्भयप्रमदत्वेद-यय परिचयैरिव । राग्यधीन्पियो हृषा, भाण्डेषु प्रतिभूयताम् ॥ १६
- सुधि व्यनासि यस्यासि-जैयधीनाटिकानट । पागिपार्श्वरुवर् पार्श्व-वर्तिना समवर्तिना ॥ १७
- मयाऽसौ विरमक्रीत-मनसा घनहाहस । अकारिं कार्यां श्रीगा, मीमपट्टीपुस्तय ॥ १८

दुष्टात्मात्यनिषिद्धस्य, येनाकल्पि बलीयसा । राज्यं मे मत्प्रसादाना-मनुष्णीकारकारणम् ॥	१९
दुतस्तस्याऽस्ति लावण्य-प्रसादो युधि यद्भुजः । अस्ति जिहामिवाकृष्य, रिपुप्रासाय सर्पति ॥	२०
युद्धमार्गेषु यस्याऽस्ति, प्रताप्रसरोष्णलः । अतीवारियशोवारि, पार्थ पादं न निर्वैवौ ॥	२१
प्रतापतापिता यस्य, विमन्थ्यासिञ्जे द्विपः । भीताः शीताद्रिवापेदुः, तयश्चण्डांशुमण्डलम् ॥	२२
सर्वेश्वरमसुं कुर्वन्नुर्वामण्डलमण्डनम् । भविष्यसि श्रियो भर्ता, गुखाम्भोभिचतुर्भुजः ॥	२३
अस्याऽस्ति च सुनो वीर-धवलः प्रधनाय यः । मार्गवस्व पुनः क्षत्र-क्षयसन्ध्यां समिहिते ॥	२४
भ्रुवमारोषितां यस्य, युधि वीर्याधिकश्रियम् । शुचि षष्ट दिपां चापैः, सजितैरपि लज्जितैः ॥	२५
यं किलोक्यतुलं विश्वे, दानेन च वलेन च । परयत्युपेन्द्रमिन्द्रोऽपि, श्वश्रोथितप्रलिभ्रमात् ॥	२६
रिपुभूमिशिरोरत्नी-भूतकमनखत्विषे । दत्त्वाऽस्यै दोषान्ते यौव-राज्यं राज्यं चिरं नुरु ॥	२७
क्रिब त्वःसीमिन् येनाह-मनाहतगतिः कृतः । तं कथञ्चित् कलौ जैनं, धर्मं मज्जन्तमुदर ॥	२८
इति श्रुत्वा नृपः स्मिन्वा, लप्रस्तत्पादपत्रयो । प्रदीक्षुमिव पाणिन्यां, पद्मयासामिव श्रियम् ॥	२९
प्रसादसादरस्तस्य, मूर्ध्नि देवोऽप्यधात् करम् । कमलं कमलागेह-मिव स्नेहवसंवदः ॥	३०
प्रातस्तुर्यस्वने सूर्यो-दयशंसिनि भुमुजः । निद्रा नेत्राञ्जमुद्राह-दय रात्रिनिवात्रजत् ॥	३१
अथ विस्मितऽदृष्टा, महीपो दीपदीधितिः । साक्षाद् देवः किलास्तीति, मद्भु पर्यङ्कमयजत् ॥	३२
अथानुमणितन्म-प्रभवित्युभ्रमां सभाम् । अभजद् भुमुजोऽप्यै वृतप्राभानिकक्रियः ॥	३३
ततः क्षितिपतेरस्य, प्रेतापेनेव निर्जितः । आगम्य प्रातरात्मानं, भानुर्भ्रजमदीदृजत् ॥	३४
स्फुरन्तः स्वप्रतापान्नि-स्फुलिङ्गा इव संसत्रि । मण्डलेशा व्यलोजघन्त, सेवान्तः क्षितिक्षितः ॥	३५
राजा ह्यन्यां सुधाकुम्भ-सदभ्यामभ्यषिञ्चत । देवादिष्टौ पितृसुतौ, सर्वेश्वरपदे हृदा ॥	३६
अमापिष्ट सभागिष्ट-समशमथ पार्थिवः । प्रसादताम्बलावण्य-प्रसादाय मुद्रा वचः ॥	३७
अस्मिन् कृतोऽस्मि राज्ये त्व-पित्रा विनासितद्विपा ।	
विन्यायन्तीमिमां भूति-सुरभावयतु तद् भवान् ॥	३८
गृह्णाण विप्रहोदम-सर्वेश्वरपदं मम । युवराजोऽस्तु मे वीर-धवलो धरलो गुणैः ॥	३९
प्रार्थितो प्रार्थनीयेऽर्थे, प्रार्थनीयेन गृह्यता । देवादेगः प्रमाणं नौ, तावूचतुरिदं मुद्रा ॥	४०
पाणी संपुट्य रुन्धानो, लोलां महम्मिष श्रियम् । पुनर्न्यजिज्ञपद् वीर-धवलो धरणीधवम् ॥	४१
न मे स्वामिन्नमात्योऽस्ति, यं विना विक्रमी हरिः ।	
अन्दे शन्दोदुरे कुम्भि-भ्रान्तयोत्पद्य पतयध ॥	४२
ददाः शस्त्रे च शास्त्रे च, धने च प्रधने च यः । तममायं ममात्यस्त-गुणप्रगुणनर्षय ॥	४३

१ क-ग प्राप्तेन विनिर्जितः ॥ २ कपुस्तके-क्षितिक्षिताः । स-गपुस्तके-क्षितिक्षिताः ॥ ३ कपुस्तके-शुभाङ्गुदः ॥
 गु० १५

इति लक्ष्मीलतोऽस-सुषया तद्विरा चिरम् । प्रीतिं किञ्चिद् विचिन्त्यात्त-जगाद् जगतीपति ॥ ४४

वस्तुपालवंशवर्णनम्

पुरा प्राग्वाटवनात्तं ज्ञात्वात्कीर्ति-श्रुतातति । रायेऽस्मिन् महसा, नृपद्वय्यण्डपः सचिवोऽभवत् ॥ ४५

क्षारोदसोदरो यस्य, यशोसिग्निंशकम् । भ्रातृन्योऽयमिति स्वर्गि-सुकिमीनमगोपयत् ॥ ४६

तद्भूक्षण्डप्रसादाख्यो, दौलदाक्षिण्यभूरभूत् । गृह्णन्ति यद्गुणान् दक्षा, लक्ष्यते न च तेषु ते ॥ ४७

दास कैलासमूमीभूद्, मुजिष्यो मुजगेधर । किङ्कर शङ्करोऽसं शशी ययशसामगूत् ॥ ४८

कीर्तिकण्डोलितव्योमा, सोमाप्यस्त-मृतोऽजनि ।

-गतिष्ठन्नर्थिनो नार्था, यस्मिन् यच्छनि वाञ्छितम् ॥ ४९

अस्याऽऽसांन् कोऽपि न स्वामी, सिद्धाधिपतिना विना ।

विना विनाधिपेनाभूद्, यस्य देवोऽपि कोऽपि नो ॥ ५०

तदम् कार्तिभरैरस्य राजो विधमराजयत् । तार्थयात्रा व्यधात् सप्त, य सप्तनरकच्छिदे ॥ ५१

त्रैलोक्यादुत्तमं वीक्ष्य, य माता पितृभक्तिभि । भक्तये सृष्टये माता पितृभ्यानात्मभूरपि ॥ ५२

आसीत् कुमारदेवीति, प्रातिभूरस्य वल्लभा । या जैनधर्मदुर्वाऽपि, गौरीप्रह्लभभक्तिमाक् ॥ ५३

तयोन्मयोऽभवत् पुरा, रिपुनासकरोजस । य कीर्तिभिर्द्वितीयेषु, निषोता समजन्यत ॥ ५४

प्रथम प्रथितस्तेषां, मञ्जुदेवो धियानिधि । स्वराज्ये गुरुद्विना स्वराज्यमतनिष्ठ य ॥ ५५

धीमानास्तेऽनुजस्तस्य, वस्तुपालः कलास्पदम् । अनुजेनान्वह तेजःपालेनाराधितक्रम ॥ ५६

इमौ प्रथान्धिमथानौ पथानौ श्रीसमागमे । तुभ्य समर्पयिष्यामि, मन्त्रिणौ तौ तु मित्रयो ॥ ५७

इत्युक्त्या मुदित वीर परतेऽसौ धराधव । आहूय तौ स्वय प्राह, नमसौली सहोदरो ॥ ५८

युवा नरेन्द्रव्यापार पासवारैरुपारगौ । कुन्ता मन्त्रिना वीर धवलस्य मदाहते ॥ ५९

युवाभ्यामेव नेत्राभ्या च-उष्मानस्य विक्रम । आलोक्यान्लोक्य नि शेषानपि दिष्टान् पिनष्टु म ॥ ६०

किञ्च प्रपन्नयतमेव दुवा जिनन्द्र-धर्म जिनेन्द्रपदपद्मयुगदिरैः ।

स्वभावलोकिवस्तुपालकुमारपाल-सन्दिष्टमिष्टतमेतदवश्यकार्यम् ॥ ६१

आस्थानमण्डपशिर प्रतिपददग्धात्, केनाप्यष्टमरुताऽनुमृतो हि तेन ।

निश्चामिति क्षितिपति स नदा प्रदाय, वीराय वीरधवलस्य मुदाऽऽर्पयत् तौ ॥ ६२

किञ्च—

कन्या तपु यगोमर तत्र हृदिर्दुष्पान्धियात्तस्मय,

भार्गवद्वन्द्विविवापगारयपय म्भानोऽसव न्ययते ।

मिथ्योक्ति कविनेति नात्र वचसि श्रद्धाऽस्ति चत् तच्चि,

नन्द श्रीस्तुत वस्तुपाल ! भवतु प्रयक्षमेतत् तव ॥

१

- शश्विस्तुनिमः परं परो, रक्षति क्षितिनिमामरातिम् ।
 वस्तुपालसचिवस्तु पालयत्येष देव-गुरुवभनीयया ॥ २
 संग्रामसिंहकुयशोभरगृहभङ्गि-भास्ववज कुसुमसौरमसन्धतागः ।
 चावैमवेन किञ्च कोकिलक्रोमलेन, शश्वद् वसन्त इव भासि वसन्तपालः ॥ ३
 श्रीवस्तुपालस्य यशस्तरङ्ग-पुरैः परिते परितोऽरिसिंहः ।
 व्यथत द्रुग्धाव्धिमिव प्रवन्ध-मसुं समुद्रभूतरसप्रशस्थम् ॥ ४
 प्रतिस्मं प्रबन्धेऽस्मि-न्नरिसिंहविलिपिते । इमान्यवृत्त चत्वारि, काव्यान्धमरपण्डितः ॥ ५ -

॥ इति सुकृतसङ्कीर्तननाम्नि महाकाव्ये मन्त्रिमकाण्डो

नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥



- वस्तुपालसचिवेन्द्रशेमुपी-सन्मुखः पुरुषपीरुपोदधिः ।
 मेदिनीमजयदग्धिमेखला-भेष वीरधवलोऽथ दुर्द्धरः ॥ १
 तन्महानतिरकम्पसङ्घटे, कण्टकालिखिते हित सताम् ।
 न्यायवर्त्मनि समे समन्ततः, सम्मदेन समचीचरत् प्रजाः ॥ २
 क्रस्यचिद्धरगिनण्डलश्रुते, कुण्डलेऽपि मणिराजिराजिते ।
 शङ्कयेव गृहमाशुशुक्षणे, कोऽपि न क्षिणति पाणिगङ्गजम् ॥ ३
 ऋदिबृद्धिविदादेषु सर्वदा, देशवासिषु जनेषु मानिषु ।
 दीयमानमपि नाददीत यत्, कोऽपि तस्करकथा ततः कुतः ॥ ४
 सर्वथाऽप्यसति याचके कश्चित्, कोऽपि किञ्चिदपि न प्रयच्छति ।
 कौतुकात् कविभिरेव वर्ण्यते, दानवानिति महाघनो जनः ॥ ५
 एतदाननचिलासि पालय-त्याशु वीरधवलदापि द्विप ।
 व्यामगौरवमिति श्रुतं क्षिते-र्नैव कश्चिदुदपाटयत् वृणम् ॥ ६
 नित्यचैयकुनुकावलोकन-व्यप्रहोऽरुमणिमूषणाशुभिः ।
 जर्भरे रजनितामघेऽभरत्, पांशुलाम्बु न मनोरथद्रुम ॥ ७
 इयवेक्ष्य मुदितं पदे पदे, लोकमुन्वणशिमिक्रमेकदा ।
 वस्तुपालसचिवे व्यजिज्ञपद्, व्यक्तमक्तिभरभामुरोऽनुजः ॥ ८
 मुदिरैव तत्र देव ! दासता-मानिनाय विपमानपि द्विप ।
 मण्डनाय मृषमण्डलप्रिया-भेष वीरधवलस्य बाहिनी ॥ ९

- योगोपाश्रवदपानमन्थल, प्रीणययनुदिन धनैल्लवधि ।
 तस्करेऽपि मृशमर्थिता गत, क्षेपते पुरि मुलेन रथका ॥ १०
- तावकीनयरासैव आधर्ता, पूर्णिमा इन्द्रिसमेत तन्वता ।
 उ वळे जगति पाशुलाकु^१राकुनैगृह ! सापुता दधे ॥ ११
- त्वमहोभिरहिमाशुकोटिवद्, निप्रकीर्णनयनेन राहुणा ।
 तिग्मभानुरनुपद्गतोऽभवत्, सान्नि वर्धति विशेषहर्षित ॥ १२
- इत्थमद्भुतविभूतिभूरभूद्, देव ! देशजनता नयात् तव ।
 जैनधर्मपरिवर्धनोचिन, तमहमरणशासनं स्मर ॥ १३
- बाधवस्य सुरसिन्धुनधुरा, भारतीमिति निशन्ध सम्मदी ।
 आह किञ्चन विचिन्ध चातुर्गोचिन सचिवचक्रमेव ॥ १४
- आमगोरगुरव पुराऽभवन्, विद्युता मुनि महेन्द्रसूरयः ।
 यै सिताम्बरवै सिताम्बर, निम्मे जगदमेयकीर्तिभि ॥ १५
- यैरजीयत जगन्नीजयी, ममथोऽयमिदमद्भुतं न न ।
 यद्भुवाऽपि यगसा यतो जित, कामजि सुकुटुङ्गिमि नरी ॥ १६
- शान्तिस्वरिथ तपदश्रियोऽण्डहृनि कृतिषु शतरोऽभवत् ।
 उदगृणन्ति मस्तोऽपि यद्गुणान्, निस्मृताष्टतरसा रसाधिकम् ॥ १७
- य सुदर्शनपर हरिधमा-नास्युगद् गुररिति स्वय रति ।
 कान्तसोमकलमीगाराह्या, य जयीति मदनोऽपि नैशत ॥ १८
- तपदेऽनिविदितप्रथावथाऽऽनन्दसूर्यमरसुरिराजको ।
 वासमन्दिग्धिलासमन्दिरे, श्रेयसा मुनिविगू बभूवतु ॥ १९
- शैलवऽपि मदमत्तवादविद्वारवारणनिवारणक्षमौ ।
 यौ जगद जयसिंहनृपति-न्यात्र-सिंहशिशुकादिति स्वयम् ॥ २०
- जपतोर्जगति निर्भर ययो-र्थदृढचमगमन् विवाटिन ।
 ख यदि स्फुटरवानुनादत, स्वथ्य भन्दगुगतामदर्शयत् ॥ २१
- तपदाशुबुरुहपटपदा पट्र. मेजिरऽय हरिभद्रसूरयः ।
 वैर्षिद्वय्य तुमुगानि कार्तिमि-ल्लयैव सुमुमायुधो जित ॥ २२
- संयमप्रवृत्तिसत्तथा गुणै-र्यमन पद्मभूरि भूरिभि ।
 न प्रवेष्टुमिह ममथो यथाऽनहतामपि गत भयोऽभवत् ॥ २३
- सन्ति सम्प्रति तद्राध्यागसने, मूरयो विजयमेनसूरयः ।
 उन्मिक्तो जगति यैर्मेहाश्वन्ममथोऽपि मगमेदनेऽभवत् ॥ २४

सर्वतोमुखतपोहुताग्नैर्यैर्हुतं स्मर इति वा विस्मय २ ।	
निर्जितं पुरजिता पुरा यतो, नेनमानतुन्विताग्निनाऽपि स ॥	२५
गन्धते तपनरन्धतेजसस्तस्य बद्धनविधिसया गुरो ।	
देशना समधिगम्य तन्मुत्साद्, धर्मकर्मणि निर्धायते मन ॥	२६
इत्युदीर्य मनिभासुर पुर-स्कृत्य कृत्यविदसौ सहोदारम् ।	
कम्पयन् कन्धियुग मनोरथै रासमाद वसतिं मुनीशितु ॥	२७
द्वारमभ्यमविशन्निपेधिका मुद्रिरन् गुरुमवेक्ष्य तपुर ।	
बाणरुद्धनयन पदे पदे, सम्भवेन धनगद्गदोऽस्सखत् ॥	२८
तु धमावियमतापतापिता, बीजयन्निव धरामसौ चिरात् ।	
अश्रवेण करचन्द्रेन त चक्रिणान् मुहुनागस्कृतिं कृती ॥	२९
दन्तदीप्तिपटलच्छलोच्छलन्मूर्त्तिम सुकृतवर्मितामिव ।	
वित्रुट्टुरितरादिराशिप, निर्ममे तदन् निर्ममेधर ॥	३०
सोऽभ्युद्वेद्य कथमन्यथ क्षिते भक्तिभारनमित दिरधिरात् ।	
अमृतो मुनिविभोर्ध्वभूपधद, युक्तमासनममुक्तधासन ॥	३१
आकलय्य गुरुरनङ्गिका सुस्त-द्वारि त्रिस्तुरितदन्तदीप्तिवत् ।	
देशना सन्निवभर्तुरप्रत कर्तुमागन्त सूरिशेखर ॥	३२
वीतरागमतधर्मकारिण, साधुवृत्तगुरुभक्तिभासुरा ।	
श्रावका कतिचिदासभावना-दान शील-तपसो भवन्ति चेत् ॥	३३
दान शील-तपसा विजि वरी, भावनैव भवनाग्निनी भवेत् ।	
स पुनर्विब्रयते प्रभावना, स तु सम्पदि सुखेन साव्यते ॥	३४
अरिधरा करमिका इव श्रिय, पातयन्ति नरकावटे नरम् ।	
कञ्चिदेव निपुण नियोजक, लहयति विकटा भवाटवीम् ॥	३५
श्रावकत्वममलं कुल फल चनमालमपि कश्चिदुद्ग्रहन् ।	
सम्पदा ललनयेव लोत्रया, पीतमद्य इव मोक्षत जन ॥	३६
श्रीकृता श्रुचिर्वेषु रोपिता, स्थानकेषु समये यथाशिपि ।	
पुष्पिताऽद्भुततरैर्यैशोमरै-राशु पुष्पफलहेतवे भवेन् ॥	३७
न स्थिरा कचन यान्ति रागद्वय, सम्मिलन्ति रसन्तु कथञ्चन ।	
सम्पद प्रकटितप्रभावना, फल्यच्चिद् यदि भवति सिद्धये ॥	३८
पावयन्ति परिकल्पभावना-दान र्नाशन-तपस स्वयव तन् ।	
विषगासनविकाराददीपिता, *यातनौनि विरल प्रमाननाम् ॥	३९

जन्पितानि बहुना प्रभावना-कारणानि मुनिभिः पुरातनैः ।।	
उत्सवो भवन्ति तीर्थयात्रया, तेषु शंकरमाणस्तु निस्तुप ॥	४०
सिद्धलोक इव सत्तता गन्, पूज्यते ननु जनो त्रिनैरपि ।	
धन्य एव स तु तीर्थयात्रया, कोऽपि सद्गपनिता निर्मात्ति यः ॥	४१
दिकूपुरभिर्भुत्तुक्राम फल्यचिद्, रौम्यदर्पणनिनो यशश्चम ।	
सद्गसद्गदितैरेणुमार्जना दिन्दुषामर्षयलो विलोम्यते ॥	४२
सद्गमर्तुंविरोपितस्तथा, वर्द्धते सपदि पुण्यपादप ।	
दर्शयत्यष्टतसन्निभं यथा, विष्टपनित्रयमौलिग फलम् ॥	४३
नागेन्द्रगण्डमुकुटस्य मुनेरनूत-माकर्ष्य कर्ष्यमिति मन्त्रिपतिर्विचारम् ।	
नवा स्वभामनि जगाम जिनेन्द्रयात्रा निर्माणनिर्ममनोऽतिमनोरथशी ॥ ४४	

किञ्च —

वितन्पाते विधाङ्गगतदत्ति मायत् तत्र यश

प्रतापान्यामभ्युद्धैसितरुचिवादं विधु-नवी ।

भञ्ज रथैर्यं सोमान्वयतिलक ! तावत् वा सुकृते,

कृतैर्नेभ्य सम्यक्त्वमिह गुण दौर्पैरुनिकप १ ॥

ईदृक् कश्चिद् विपश्चिजनमनसि चमत्कारकारी पुराऽपि,

कापि प्रापि प्रभुदे वसुमति सुमतिर्वस्तुपालस्य तुल्य ।

येन क्षीरार्णवार्णश्रयसिचयजुष सिद्धसिन्धुत्तरीय

श्रीविस्तारोत्तराया व्यरवि शुभरुचि कीर्त्तिभि कञ्चुफस्ते ॥ २

सञ्जक्रनन्दकपुरोगदयाद्भुतश्री-स्त्वं वस्तुपाल ! पुरयोचम ! जिष्ट्युतेव ।

तद् द्रयते तु इदि मेऽन्वहमेव शङ्को, यद् सिन्धुराजतनुभूर्न करे गृहीत ॥ ३

फचिर्न को निस्तुपवस्तुपाल-यश सुधानिहरसं रसञ्च ।

प्रबन्धमास्वादयतेऽरिसिंह - मुखारवि दैःरुमरन्तमेनम् १ ॥

प्रतिस्वर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिमिते । इमान्यकृत चवारि, कान्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये धर्मोपदेशानो

नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



- स तीर्थयात्रामु मनोमनोरथे प्रकाशयन् सम्पदमेतुरोधमः ।
 पुरे पुरे श्राद्धजननाय नायको, विवेकभाजां लिखितान्यलीलिखत् ॥ १
- अवाहनानामपि वाहनावली-मगम्बलानामपि शम्बलं बली ।
 अकिङ्कराणामपि किङ्करान् कृतीं, वितीर्थं सद्देः समवीवहद् बहून् ॥ २
- अदोषधीर्मात्रिपतिस्तदौषधी-रनीमिहद् विश्वरुजां विजित्वरीः ।
 वमूव तामिर्भृगमौषधीपतिः, स कौमुदीक्रीमलकां चिकारणम् ॥ ३
- बुधैव वैधाननवधवैभवान्, समं स मन्त्री अगृह्ये महेच्छया ।
 प्रभूष्यसहस्रकमोयुरागिजे, तदाऽखिलव्याधिहरं तमोऽपि यत् ॥ ४
- न यद्यपि प्रौढवृषप्रभावतो, मन्त्रिप्यति स्पृष्टमनोभिद्रा क्वचित् ।
 परोपकाराय तथाऽप्ययं कृती, युगादिसर्वज्ञकृताप्रहोऽभवत् ॥ ५
- अथासिद्धीश्रवतनिर्जितान्तर-द्विपो मयान्भोनिषिदुग्मसंभवान् ।
 मध्येषु गन्वा स्वयमद्भुतादरः, समं शमीन्द्रान् समवाहयत् कृती ॥ ६
- सतां पतिः सहस्रपतित्वरोपणा-भिपेभ्रमासाव गुरोः कराम्बुजात् ।
 शुभे मुहूर्तेऽद्भुतबाहव्याहिनी-वृतोऽचलबन्धनचर्चिताकृतिः ॥ ७
- ततश्चतुर्विंशतिर्षिष्कला-कलादितोर्षिङ्करदेवतालयः ।
 चचाल नृत्यादिविनोदतत्परः, प्रजानुदश्रुस्तपितेन वामेण ॥ ८
- पिबन् पयः स्व सरितो वियदने, शशाङ्कान्तीन्तुश्रुते तृणोपमाः ।
 निःशृङ्खलो मस्य मरु-किङ्कोरकः, समं निगोत्रैकगुरुस्ततोऽचलत् ॥ ९
- अथानुचण्डर्नरवन्द्रसूरयो, लसन्प्रसस्तोमविलोकनच्छ्रयात् ।
 दशैव सिञ्चन्त इवाद्भुतकृमां, प्रयाति सद्दे वसुधां सुधान्तया ॥ १०
- अथाचलन् वायटगच्छवत्सलाः, कलास्पदं श्रीजिनदचसूरयः ।
 निराकृतश्रीषु न येषु मन्मथः, चकार केलि जननीविरोधतः ॥ ११
- भवाभिमृतेन मनोसुखा मया-दन्तीदितैः क्लृप्तमवाभिमृतिभिः ।
 भवान्नि सण्डेरकाच्छसूरिभिः, प्रद्यान्तसूरैरथ ज्ञान्तिसूरिभिः ॥ १२
- शरीरभासैव पराभवं स्मरः, स्मरन्नवदयत् किल यस्य दूरतः ।
 स वर्द्धमानाभिवग्निरोखरन्ततोऽचलद् गच्छुःकलोकमास्करः ॥ १३
- सहस्रशोषैरिगरूपक्रीर्यैः सहस्रधामप्रतिमानतेजसः ।
 सहस्रनेत्रप्रमुखामरस्तुताः, सहस्रशोषेऽपि च सूरयोऽचलत् ॥ १४
- चतुर्दिगापूरणभूरिनि-स्वन-धनुःसमुद्रान्तमहीतलागतः ।
 ततश्चतुर्धामतनिधलोऽचल-चतुर्बिधः सद्भजनो यथाविधि ॥ १५

वित्पतः कासहृद्वाल्पपत्ने, महोत्सवं नाभितनूजसद्यनि ।	
सहायतां प्रत्यशृणोन्नहामते-रमुष्य दृग्भर्ति देवताऽन्विका ॥	१६
व्यासस्य सद्यस्य विसर्पतोऽप्रतः, शताङ्गचक्रोचितचीकृतस्वनः ।	
नदन्महोक्षव्यनिवर्तितोऽपि सन्, ह्यालिहेपाभिरलाभि लोषवम् ॥	१७
पवित्रमेतत् तिलक्राम नित्यशः, परस्परस्पर्द्धिगिरुर्ध्वमुत्सुकैः ।	
तदा सदरैः समवापि दैवतैः, सुदैव तैः सद्यविदारजं रजः ॥	१८
अमूत् तदा सद्यपदाभिगद्गत-स्तथा कथञ्चिद् विरजस्तमा मही ।	
यथाधिरुद्धाऽपि शिरस्यहीक्षितु-श्चकार नो भारसुदारविग्रहा ॥	१९
विमेष्य लोभेन धवान् धवान्तै-र्यया प्रपेदे प्रनिधातपातकम् ।	
पवित्रिता सद्यपदैर्दिवं ययौ, मही स्वदेहेन रजोमयेन सा ॥	२०
महानयं सद्यजनोऽचलत् कथं, धत्स्यथ इमामिनि जन्धितु तदा ।	
गतैः समीपं क्रिड रेणुभिः ककुप्-धरेणुभिर्नदु मदी निरायनः ॥	२१
रजस्तदा विमृत्सद्यसम्भवं, नमोनदीर्नमगनारगर्भितम् ।	
इहापि गङ्गावृदलाभि दुर्लभेभ्यकर्षि सवर्षिभिराद्यु हर्षिभिः ॥	२२
दिनेधरश्रीदनिपातकादिव, द्रुतं दिवः पानिगिरर्षिनातुभिः ।	
पवित्रसद्यमोणुसद्गमा-श्चसद्गर्ध्वैव गानि रम तयते ॥	२३
विसर्पता सद्यजनैर्न मेदिनी, पवित्रिता प्रयुपकाग्निं ततः ।	
उदस्य धूर्तरतपनातपं व्यपाद, व्यपात तूर्णं सुनरान्तरङ्गिणी ॥	२४
अलाजगत्यां मुषि सद्यसद्गमात्, तदा तरत्थामिव धर्मगारिणी ।	
अगङ्गोऽमाकमवातरत्तग-मिति रम नृ यति मुदा महीजनः ॥	२५
अयापदान्यानि निरर्गमितुं ग्या-न्दनेन गदेन परोषकाग्निता ।	
शतङ्गचक्रप्रधिगीययाऽरति विंशत्यमाता सद्यं व्यकथ्यते ॥	२६
अमुष्य सद्यस्य शिलहनजियां, दिग्भरोऽपि अमशीवकर्मठः ।	
स्युत्सुकरेननिभेन भेदिवान्, दुर्बलि पुण्यानि स्वर्गिणामागः ॥	२७
अमकलाय दिनरति शर्करा-वग्म्ब-साद्रुद्विभूषितप्रप ।	
गिधने गृहकोट इव प्रमेदिन-निगम्य मन्त्री जनमिधमव्यति ॥	२८
सूत्रं जन सूत्रमुमबो-सुक्त, पुंर पुंर नैर्षरता वृताकृति ।	
अने व्यन्तिए मही मदीदारी-मदीमगनाहितनावनातुम् ॥	२९
सनीतमदेनैर्नैर्जनं दिव प्रियो दिव मन्त्रमुत्तमं ३० ॥	
पुं. पुं धर्मरूपव व्यपति, विन्त ३० शत्रुशुभयन्त्रे जन ॥	३०

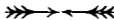
अगण्यपुण्यैर्भवसिन्धुपारन्-रभृदयं लोचनगोचरो गिरि ।	
इति स्मयस्मेशदो विदस्तदा, ससम्भद्राश्चक्रुहो ! महोत्सवम् ॥	३१
गतोऽप्रतोऽस्मिन् दुरितैर्गनाविलो, विलोक्य नाभेयनिकेतकेतनम् ।	
जनस्तदा शर्मसोर्निबिह्वो, मदान किं किं रचयाश्चकार सः ? ॥	३२
ननर्त्त कश्चित् पृथुसम्मदस्तदा, सलीलन्योत्थयितपाणिगल्लवः ।	
प्रतिप्रतीकं परितः कुतूहला-डले यथाऽऽलोक्यत पुण्यसम्पदा ॥	३३
बहूपक्त्याद्व्युगस्तदाऽपरो, ननर्त्त दूरप्रसरत्करञ्जदः ।	
विधातुमुद्द्वीय नगाधिरोहणं, मनोदयी पनरथीन्वज्रिव ॥	३४
भवभ्रमिश्रान्तरः विरोधरा-ऽधिरोपितं पापभरं त्यजन्निव ।	
इलामिलनौलिरमन्दसम्मदो, ननाम विग्रामविधिसया परः ॥	३५
विलोकयन् कोऽपि वृषव्यन्नध्वजं, सुदुर्मुहुर्भङ्क्षु नमन्नमन्दयीः ।	
उदञ्चित-न्यञ्चितमौलिलीलाया, रसज मुक्तिश्रियगाह्यज्रिव ॥	३६
अमुत्र शत्रुञ्जयशैलसन्निधौ, भयार्णवस्येव तटे तदा परः ।	
निरीयितुं पातकजातकर्दमा-ल्लुञ्जोऽ सर्वाङ्गसुदारभीर्मुदा ॥	३७
समुद्भवज्ञावरसादचेतन-ध्विराय ग्रत्याग्निविक्रवर्जितः ।	
परः गिल्यपुत्रसमोऽपि बाणवा-न्मोचि रिष्टैरपि रिष्टशङ्कितैः ॥	३८
इहाथ पाथस्तरानिराजिते, जितेन्द्रियो गन्त्रिपतिर्महीतले ।	
धनापनोदार्यमद्रापयत् तदा, निवासमासजमसुभ्य भूयत् ॥	३९
अथामजत् खिन्नजल्पनोदिनो, दिनोपतापे सचिव- स किङ्करान् ।	
मरुच्यवान् प्रैयदेय लक्ष्मणं, शिल्पिन्दन्द्रत्रविटम्बिताम्बुदान् ॥	४०
सुबंशसंयोजितरूपशोभिता, विचित्रिता धातुस्तेन सर्षत* ।	
पदे पदे पर्वतपादसोऽद्रा, धितेनिरे पीडरचीवरालयाः ॥	४१
अनासि धर्मैकितिपस्य वप्रवत्, पदे पदे मण्डलितानि रेजिरे ।	
वृणं द्विफपापमिवोदमूलयन्, यतो विनिस्सृज्य वृषा मटा इव ॥	४२
गिरौ यति पत्यत न. सुतूहन्वत्, कथं वृषा मुञ्चत भूतले समे / ।	
इतीव चाहूकिञ्चतच्छृणुं मुसे. वृषा व्यधुर्वैमति सारथौ पुर. ॥	४३
नेयेन सहस्य रसातलं यथा, कथं समारुण्यत साऽपि भिन्महे (?) ।	
नवीनसुखीविकरापदेशतः, खनन्ति भूखण्डमिति रम किङ्कराः ॥	४४

प्रवृत्तवृत्ता प्रेक्षणेर्मिपागिभि, प्रणीतर्षाता कमलाख्यपदपदै ।	
तदा न्यधु स्वागतमागा ज्ञ, विदग्भमग्भ प्रसरेग सि धव ॥	४५
तदाऽनपाकाय विक्राशित िम्बी, उखन् वमौ सद्धजन निरासिनि ।	
भरानमरूमिभिदास्तुटस्फुरन्कगीद्रूपडामगिरसिगाशिषत् ॥	४६
अथैप तीर्षाद्दवतात्रय प्रमृत्नमव्यदिनपूजने जन ।	
मुदा नमस्वय गुरुकामद्वय, प्रचकमे शाघतकृत्यकग्निषु ॥	४७
अदायि दानाय तदा धन तथा, मनोरथार्त्तमनेन मत्रिणा ।	
यथा परे निधयदायिनो जना, वनीपकानामपि चाटु चक्रिरे ॥	४८
स्वय स रस्मैचन मोदहादिकं, पृतादि रस्मैचन शुद्धवासन ।	
फलादि ऋमैचन साधने ददर्, तदा विशाग्राम न मत्रिशेखर ॥	४९
अक्रिञ्चन कथन याचत धचित्, किम बहो ! शन्द्रमिति प्रदाव्य स ।	
चकार भोग्यादिन्मामना श्रती तृतीययामक्षणपूरितेक्षण ॥	५०
अथ क्रुततनुद्वय कौतुकोचानचेना, जिनापदमनुसद्ध क्लृप्तसद्धन्मागात् ।	
इह महम्महिमाशुर्दृष्टुकामो निकाम, गगनागमनस्वित्त प्रथगद्वौ निरग्ग ॥	५१

क्रिञ्च—

पाय पायमहर्निश रिपुयश पीयूषपूर भवान्,	
कपायु क्षितिरूपवृक्ष ! भवताल्लक्ष्मीश्रुताल्लिङ्गित ।	
श्रीसोमान्वयसोमनौक्तिकमधैरेव प्रसूनैस्त्रि,	
त्वर्कातिप्रकरैरपि त्रिभुवन सौरभ्यमभ्यस्यतु ॥	१
मायमाश्रय ! नाभरे यग, श्रावसन्त ! तव सततस्मितम् ।	
इधन यमहिमानमानशे मानसाश्रयमहो ! महायसाम् ॥	२
सैसुच्छिन्नाभि उल्लु वस्तुपाल प्रतापद्रीभाञ्जनमञ्जराभि ।	
इहोपकृण्ठस्त्रियतिभाजि शङ्खे, भाञ्जियसुमोन्तिसुचम् ॥	३
श्रीवस्तुपालप्रथितप्रसादादासन् प्रगोदापृतवारयो मा ।	
एतप्रवधच्छलनोऽरिसिंहस्ता एव मूर्त्वा स्तवकीचकार ॥	४
प्रतिसर्ग प्रवधेऽस्मिन्पारिसिंहविनिर्गिते । इमा श्रुत चचारि, काभ्यान्यमरपण्डितः ॥	५

॥ इति सुकृतसक्रीर्त्तननाम्नि महाकान्ये सङ्घप्रस्थानो
नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥



- विरहसिखिसमीरं कामनासौरवीर स्तिमिरतरुठार पूर्वदिक्कारहार ।
गगनगजनिपात्री कामिनीचक्रवादी, सितरुचिरदितोऽय वर्षयन् वार्षितोयम् ॥ १६
- इभुलमिभमल्लोद्भासि कैलासशैला-कृतिमदृत नगौषं शेषवच्छेषसर्पां ।
रुचिरभृतमर्गचे सहभर्तुर्वेश श्री रिष धवलितविषा जाह्नवीं निहनुमाना ॥ १७
- वियदहनि वित्तं स्वस्य विधस्य सह-क्रमसमुदितधूलौमण्डलैर्मण्डनं यत् ।
सुदृढमिदमिदानीं मूर्त्तमन्युदिन्दु-स्युतिनिभमिति लंभे भिन्नमास्त्रियमालम् ॥ १८
- चिरमुपचितहर्षे सहलोकायलोका दिव वृतसुकृतोऽय व्योमचूडावलम्बी ।
सहजनियं क्लृप्त-यत्कृतिप्राजमाना हृतिरहृत न केया विस्मय शंतिरस्ति । ॥ १९
- निदि नियतमियत्यान्यसु सहलोक, कृतमहमिह भक्त्या जागरूकं विलोक्य ।
श्यमनुनुत मौलि विस्मिता व्योमलक्ष्मी, तुमुमगिव तदाऽस्मान् मन्दमभश्यदिन्दु ॥ २०
- गिरिद्वारसि जितन नन्तुकामस्य मा स्या-महमहह ! महश्चादस्य याजगतराय ।
इति विस्मरभावप्राजमानक्षणस्य, क्षममपि न तमिसा सद्यलोकस्य जाता ॥ २१
- चलितसकलतारालोकमासुकसन्ध्या दहनमिह विहायोमण्डल द्रागु विहाय ।
सहजमइसि त्रे हन्तुमाग तुक्रामे, परमपरमहीमृदुर्गमि-दुर्गतोऽयम् ॥ २२
- सजलजलदचारुर्वाहणीरामाज, क्षितितललटितस्यामुष्य मुक्ताभ्यस्य ।
समरतिगिरसपो यचना नर्तुरेप, त्रिभुवनसवना तर्दुर्गोराशिरासीत् ॥ २३
- स्फुटलटितल्लङ्गे यचनामप भवा, त्यगति फरगुह्रीतामन्युता भूरिमुक्ताम् ।
इति वत ! तुमुदिष्य सारसौरम्यद्रोभा-गतमपुपयगु व्यादुर्बुधसन्ध्याम् ॥ २४
- हरिहरिति रथाज्ञानस्यसङ्घ-परुष द्रुम इव दिग्घटसिन्नुद्रमात्मभक्ति ।
श्लथिसविषगुताऽंगुनदिम्बवीजा-नुदयत मृदुतज रंतवाद्दुक्तोऽयम् ॥ २५
- पतिवति पयोपेस्तरा हन्त ! रात्रि प्रियसुपतिपिमेदाद् तु रमाजि द्विजेन्दे ।
द्विजततिरतितारं निर्भंभे तारकाणा, पथि क्लृप्तमुर्धंरुधरन्ती चिसाय ॥ २६
- भ्रमसुपसि तुपारस्यन्दसङ्गागता-चित्रलक्षितनील-या तदुचान्जोष ।
गगनरघविदारो-मृदुलैस्सर्गि स्तगगिद्धरिदोरैर्गणत मुक्तमूर्त्तौ ॥ २७
- भुक्तामगति 'भृति मोर्त्तुदामगाना, भुवि भवनमभानमस्ये तारनागात् ।
सर्वदि विरदमता नित्येरे भू भुंर म्भ-द्वयारमगिडास-व्यादृता भातुनास ॥ २८
- भसुगुसुगुसुखधन्तलमानुदागी, त्रिउक्त इव तमुपन् प्राप्तिम मूर्धन्य ॥
अयमभनत अन्नागतिमुन्निद्रमुन्न-स्वउत्रे उन्निद्र ईश्रानातुम्भाद् दृगामाम् ॥ २९
- नलनिषिन्नअनन्यात् तुम्हीटप्रज, अन्तर्यामिच रमाका या नानुग-गुज्याम ।
सपति विरद्वन कान्तिने विलोक्य, प्रहमिनमु-वरमा तामनी-रुयात् ॥ ३०

अवतमसततीना मृत्युकालोऽपमृत्यु, कुशलवलयाना जीवित पङ्क्ति-या ।	
अलमकृत नमोऽङ्कं कोकलोऋष्य सीता विरहितहरिशापानुग्रहोऽय ग्रहेण ॥	३१
दयितमिति पुरस्ताद् वीक्ष्य भानु युवान्, हरिहरिति हरिद्रारागमाग प्रकोपात् ।	
स्फुटकमलमुखेभ्योऽभोषि नि आसधूमा बलिरलिनिरुल्लवच्छयना पत्रिर्नामि ॥	३२
अजनि गिरिनितम्बे निम्बमर्कस्य धातु च्छुरितमिव सराग सूर्यकान्ताश्रितसम् ।	
करजलपरिधौत चुम्बित चाम्बरेण, क्षणघटितमुवर्गादर्शवद् दिग्बधूनाम् ॥	३३
सममसममयूवैर्भानुमन्त लसन्त, गिरिशिरसि विलोक्याऽऽलोकनीयप्रभावम् ।	
स इव सचिवभवां सङ्कलोकन साऋ, त्रिमलगिरिशिरोऽग्र गन्तुमन्युस्त्रकोऽभूत् ॥	३४
सद्यो जिनक्रमनमस्कृतिलोसङ्घ सङ्घइल्लोवसुधातलसम्भ्रमेण ।	
श्रीवस्तुपालगुणदृष्ट इवात्रलोऽपि, शत्रुञ्जयः स्वयमकल्पयदेष मौलिम् ॥	३५

किञ्च—

नित्यं त्वद्भवनारविन्दसदन वाग्देवता सेवते,

ःव पद्माश्रयभासुरोऽसि जयति त्रैलोक्यसूत्र त्वयि ।

श्रीमञ्चण्डपगोनमण्डन ! गुणैरभिर्भवान् ब्रह्मण ,

साधर्म्यं वहति प्रियवद ! मदाशाभिस्तदायुर्वव ॥ १

अलभत वत ! यस्मिन् सान्द्रदाग्निचूर्णे गृहपतिरवकाश न प्रदोषक्षणऽपि ।

वितरति सति वित्त वस्तुपाले कवीना मिह गृहकुहरान्तर्निष रत्नाकुलेऽपि ॥ २

श्रीमन्वीधरवस्तुपाल ! भुजयोर्युग्मेन युद्धान्म,

तूर्णं निस्तरतोऽपि ते समभवन्न न्यातुल्यव निष्ठ ।

यद्गूरादवगण्य निर्मलगुण शब्द त्वया मौक्तिक

स्तोमानामिव धैर्यधुर्य ! यशसा चक्रे महान् सङ्ग्रह ॥ ३

श्रीवस्तुपालसचिवेन्द्रयश प्रमून-भान्येऽरिसिंहनाम्ना गुणगुम्फितेऽस्मिन् ।

कण्ठे सता लुठति निर्मन्दुर्जनाली-यक्त्रप्रभा कति न त्रिभ्रति भृङ्गमायम् ॥ ४

प्रतिसर्ग प्रयत्नेऽस्मिन्नरिसिंहप्रतिमित । इमान्यद्वत चत्वारि, काभ्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्तननाग्नि महाकाव्ये सूर्योदयवर्णने

नाम पद्यः सर्गः ॥ ६ ॥



शैलमौलिगमनाय मनोऽधै-भ्राजमानमसमानविहारैः ।	
प्रापदस्खलितमप्यसमेपु, दाग् मनोरथरथं पथि सद्मः ॥	१
भूरिधानुमयवङ्गमशृङ्ग-श्रेणिवद्विविधचरिचरिचित्रः ।	
मन्दमन्दमथ सहजनोऽसौ, सबचाल गिरिराजतंडेयु ॥	२
मञ्जुलः कनकमुण्डलकान्तैः, खीमुखैः स्रष्टि सोमशताभैः ।	
पङ्कभातु-हिमभानुमनोज्ञै, मेहम-प्रजयदेष गिरिन्द्रः ॥	३
अङ्गलैः शशिसुखीवसनानां, चञ्चलैः कटकसीमनि शैलः ।	
सङ्घसङ्घ सुदृतामृतसेका-दुङ्गवत्प्रथमपक्ष इवाभात् ॥	४
आन्तरेण नयनेन जिनेन्दो-राननेन्दुरुचिपानपराणाम् ।	
अप्युदारगिरिशृङ्गविश्रुते, न श्रमः समजनिष्ट जनानाम् ॥	५
नाम नामसुधया जिनमर्तुः, प्रासथा जनसुखेषु न तृष्णा ।	
दूरवर्चनि सुखामृतकुण्डे, लोचनानि तृप्तिानि जनानाम् ॥	६
प्राप्तिजितमनोहृततीर्था-धीशपाद-रुमलाद्वितमौलिः ।	
शैलसानुषु जनो न सदानां, तापमाप तपनांशुतातभ्यः ॥	७
वमागतेन लघुक्रं यददर्शि, क्षोणिशुच्छिरसि तेन जनेन ।	
उच्चकैर्विचरता दृष्टे तत्, नदसङ्गममदादिव पुष्टम् ॥	८
देवभक्तिभरनिर्मितहस्ता-लम्बनन्यतिकरेण जनोऽयम् ।	
आसदद् गिरिगिरास्थतिहर्षां-मदुःखं ससुखमिवागतवन्ति ॥	९
अजुतप्रमदशालिषु शैल, शोखररिचित्तुषु तेषु जनेषु ।	
भृतिभस्तिवसुरेषु स रेजे, मेरुवलनसविच्छन्निपिङ्गः ॥	१०
कर्मधैरिविजयाय सतेजा, नाभिभूपदन्त्राशुविचित्रम् ।	
आरुगेह सचिव, शुचिदन्तै, दन्तिरा-बभिव तं गिरिराजम् ॥	११
वोक्ष्य यक्षमिह सङ्गजनौष, श्रीरूपद्विनमथाग्निविकेन्दुम् ।	
धुम्यति स्म चतुरः स चतुर्षां, विसृतस्तरलहर्षतरङ्गः ॥	१२
अन्तरायदलनाय जनौषं, तीर्थतरंगवृत्तेऽभिषतन्तम् ।	
द्रष्टुं इव वर्येन दरा-जारुहेह गुरुशैशशिजं यः ॥	१३
भावनासखिलगाढेनि शशत्, तर्षनाथपदप्रमनोद्रे ।	
मानसं तनुमतां विलसन् यो, हंसवत् स्रज्जति कामपि कान्तिम् ॥	१४
यक्षमुष्य ! स भवान् मुचनैक-त्राणकारणमकारणमनु ।	
वसलेव जननी जन्मेन, नाथ ! पालयतु बालमित्र स्वम् ॥	१५

- श्रीरूपर्दिनमिति स्तुतिपूर्वैः यथारात्रमभिपूज्य सहर्षम् ।
 आशु सद्यपतिरेष ससद्यस्तीर्थनाथनमनार्थमचालीत् ॥ १६
- उत्सुकैरथ जनैर्जिनचैत्यं, योश्च मङ्गु पवि गामिव वल्लैः ।
 व्यक्तशक्तिरभसत्तुटिवोचैः-कर्मवन्धतरले प्रदधाते ॥ १७
- सञ्चरन् भुवि न माति जनो यः, स्फूर्तिसङ्कुचित्तमूर्तिलोऽसौ ।
 द्रष्टुमान्धनलिनं जिनभर्तु-धैलधाम्नि स ममौ समनेषः ॥ १८
- दण्यमानमसमानविमर्दं, हृद् हृद्वा ननु मिथस्तनुभाजाम् ।
 भालाभङ्गभयमङ्गुरस्रवै-न्तरारिभिरमोचि तत्रानीम् ॥ १९
- पापपङ्कशमनाय जनानां, स्नानमन्तरकरोद् ध्रुवमात्मा ।
 रोमवर्त्मसु जलं विगर्दं, स्वैदपूर्गपितः प्रसृतं तत् ॥ २०
- आबभौ घनघनाघनलक्ष्मी-रङ्गिनां प्रमदरोमविकारः ।
 अन्तरस्थितजिनेन्दुलचिथ्री-निस्तरदुरिततामसतुल्यः ॥ २१
- लोचनैस्तनुभतामिति खिनैः, प्राप्य जैनवदनाभृतकुण्डम् ।
 आशु ब्रह्मसर्पनैरिव रेजे, सम्मदेन विगलज्जल्लेशैः ॥ २२
- तत्र तादृशि वनस्य विमर्दं, शक्यते भ्रमयितुं न करोऽपि ।
 वीक्ष्य विश्वविभुमेनमनृत्यन्, भाविनो यदि मुदा मनसैव ॥ २३
- स्थीयतादृशविमर्दसुदूर-क्षिप्तसूरकिरणः क्लि लोहः ।
 रत्नभूषणविभिन्नतमिलो, भक्तिव्यमङ्गत प्रसुचैत्ये ॥ २४
- धूलिध्रुवपद एव तदानी-भागतो जिनपतिं प्रगिपत्य ।
 दूरपूरितमनोरथवेगं, स्तोतुमारभत मन्त्रिवरोऽसौ ॥ २५
- त्वद्गुणान् गदितुनीश ! समन्त्रान्, न स्वयं सुरसरोऽपि समर्षः ।
 गोचरोऽप्यसि न मादृशवाचां, मौनमेव हि तव स्ववद्रेतु ॥ २६
- त्वां निरर्थकगिराऽपि नथाऽपि, स्तौमि निश्चिनुत ! मुग्धतयाऽहम् ।
 प्रीतये निजशिरोः स्फुटलाला-न्भासि लहरवचासि गुरुगान् ॥ २७
- न क्षमोऽयमहितागपि हन्तुं, स्वं कुटुम्बकगव व मुगोच ।
 जल्पिता जिन ! परैरिति दोषा, प्रस्युत स्तवननां तव जम् ॥ २८
- भाषितं सुवनभूषण ! मित्वा, कर्म निर्ममपते ! भवतेदम् ।
 श्रूयते त्वदभिधाऽपि व्रदाच्चिद्, यत्र तत्र न करोति निचासम् ॥ २९
- नाऽऽनुवन्ति भववन्धनिकेता-दग्रतस्तव गतरस्य पदं ये ।
 भ्रम्यते धनवशाजिन ! मुक्त्यै, तैर्दुधैव पृथिवीवृक्षयातः ॥ ३०

ख मनोभयमपास्य पुनस्त जन्मर्भारमुच स्वमनोऽपि ।	
किं हरन्तु हरिणीतरलास्य लावके तदननत्ककिरीट ! ॥	३१
प्राप्य स्तम्भिव पुण्यपयोधे-स्त्वा इदि प्रणिदधाति जनो य ।	
स प्रयाति पुरुषोत्तमभाय, पश्य न स्वपिति किन्तु भवाण्यौ ॥	३२
यामवाप्य न नमामि भगवन्तं, ता न निर्वृतिमपि स्पृहयामि ।	
त्वत्प्रसादवशात्स्वयि भक्तिं भांनु मे जिन ! भवेऽपि भवेऽपि ॥	३३
निर्मितस्तुतिरिति प्रतियात, कृत्स्नमेव मुकृती कृतशौच ।	
स्नानहेतुकत्तन्वान् पुष्ट्यान्म -पूरितानयमचीचलदिन्दै ॥	३४
श्रावका प्रतिपदे हृदयाप्र-यस्तहस्तधृतकाञ्चनकुम्भा ।	
निस्तरीतुमिव ससृतिस्तिन्धु, कुर्वते स्म निरपायनुपायम् ॥	३५
शुद्धसत्त्वपतिर्कात्तिलताना, विष्टपत्रितयगर्भगतानाम् ।	
आतपत्रपटली भिमलश्री-रादिकन्दयदिय विरराज ॥	३६
अत्युदारतरनर्त्तमातै-रस्तवेन महता प्रहताथ ।	
प्राप मन्त्रितिलक किल कर्म प्वसिनो जिनपतेरथ चैत्यम् ॥	३७
कुङ्कुमान्बुभिरसिस्त्नपदीय, श्रावकै सह यथाविधि मन्त्री ।	
तैर्विधौतननुपे तदाऽभूत्, पर्वतो विमल इत्युचिताह ॥	३८
अङ्गमण्डनमखण्डनमासी जिर्मितं मृगामदैर्जिनभर्तु ।	
क्लृप्तसन्नहनसन्निभमुच्चै, कर्मकृतरिपुकोटिजयाय ॥	३९
भूरिपुष्परचिता जिनभर्तु-र्यन्विता कृतिभिरर्चनमाला ।	
अप्रभूष्ण इव स्वस्तुष्णा, भल्लयो वपुषि नृपगमास्तम् ॥	४०
तैस्तथा जिन्मृगस्तिमिरोर्षे निर्गण्डेऽष्ट शृष्टुष्टुष्टुष्टुष्टु ?	
सस्युद्धेव सचिय मुकुनश्री, कोतुकादभिससार यथाऽसौ ॥	४१
आरात्रिक कृतमथ प्रथमस्य तीर्थ-भर्तुः पुर स्फुरदुरुतिचक्रताल्म् ।	
उच्चावचप्रसरणैर्निर्गमान सद्द-दोषादिष कुमुमवृष्टिविसजमानम् ॥	४२
इत्थं प्रेक्षणकृशणाद्वितमना सम्पूय विचित्रयी	
पूज्य नाभिमुत्तं समान्य च तथारूपाग्निहाटादिकात् ।	
मन्त्रीश प्रतिलाभितवतितति श्रुतुञ्जयोर्बाधरा	
दुर्धर्षो कृतमङ्गल समजनि श्रीनेमिप्रेवोत्सुक ॥	४३

किञ्च—

शौर्वैर्ब्रह्मरहस्य दैत्य-भरतामाचार्ययो प्रज्ञया,

दानैर्देवगवी-मणि जिदिल्ला स्वर्गधर गवित ।

- एकेनैव विभूषणेन भवता श्रीवस्तुपाल ! क्षिति-
स्तं निश्चिन्त्य मुदा तयाऽऽशिष्मदादेवं मेदायुर्भव ॥ १
- कल्पान्तोद्भ्रान्तमात्स्फरनिकरनिभो विश्रमन्तः समन्तात्,
सन्तापस्वल्पताप-बलदनन्भवः केन शक्येत सोढुम् ? ।
गन्त्रिन् श्रीवस्तुपाल ! त्रिजगति यदि ते कीर्तिलेखेव न स्या-
दन्त पीयूषपेया बहिरपि च गृहध्वन्द्वोद्घातानि ॥ २
- मासि दौस्थ्यतरुखण्डरुण्डनैर्वस्तुपाल ! भुवि दानिकुञ्जरः ।
चित्रमत्र किमु शृङ्गमर्दनं, यत् त्वया क्रमणलोक्या कृतम् ॥ ३
- क्रान्त्यमेतद्वरिसिंहनिमित्तं, सर्वतोमुखतयैव रङ्गभृः ।
वस्तुपालसचिवेन्द्रकीर्तिभिर्नेत्तकीभिरिव यत्र तुल्यते ॥ ४
- प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहवितिमिते । इमान्यकृतं चत्वारि, काव्यान्वयरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्तननाम्नि महाकाव्ये शत्रुञ्जयदर्शानो
नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥



- सचिवः सभं सपदि सहजनैरथ देवपत्तनमगान्धारम् ।
प्रणनाम कामलजयिनं नयन-प्रियमिन्दुलाञ्छनमिहोश्रमहा ॥ १
- विधुमौलिमौलिविधुधामभरैरिह मे गविष्यति सदाऽभुदयः ।
इति पाथसाममुममुञ्ज पतिं, कृतवासमैक्षत स मन्त्रिपति ॥ २
- इह सोमनाथमुकुटोलसितैः, सरिदन्धुभिर्विधुधिभाभिरपि ।
सततप्रवृद्धविहरहरीनिवहव्यनिध्वनितद्विबलयम् ॥ ३
- सततान्तरालशयविष्णुवपुर्विभवर्दिभाभिरिव मेचक्रितम् ।
उदयत्तदीयशयनीयफणि-स्फुटरसिमराग्निगभेनधरम् ॥ ४
- सल्लिखेन विश्वबलयप्रलयः, समये मयैव रचनीय इति ।
गुहुरीरितापहतवाचिभरैर्जनयन्तमन्वहमिहाधसन्म् ॥ ५
- पुरुषोत्तमो हृदि मदीयमुत, गिरसीपरोऽपि विदधाति सदा ।
प्रमद्रादुदारतरगर्भमिन्, प्रकटं गटन्तमिष वीचिकरैः ॥ ६
- अथि यज्ञभाजि कुपिते लुपती, श्रुतरक्षणं क्षितिदत्तामभितः ।
स्फुरितोर्मिबाहुमिति कीर्तिततीर्जगति क्षिपन्तमिव फेनमिपात् ॥ ७

- नयनामवर्षमिनि परिस्फुरतोः, दुस्तिान्धकारपटलां विकटाम् ।
 दलयन्ति मे त्रिजगदीश ! कदा भवदीयपादनरजदीपशिलाः ॥ २३
- भुवनैकनाथ ! भवदीयवपुर्विपुलप्रभापयसि मग्नमपि ।
 द्वितयं कदा नयनयोरिह मां, हिमहास्तास्वुण ! तारयति ॥ २४
- तदपीयत श्रुतिपुटेन यदा, सततं विपण्णद्विविपन्नदि ते ।
 भवदद्गदीक्षितमुना यमुना-जयिनीं धयामि नयनेन कदा ॥ २५
- नलिनाद्रिपुष्पनिवहेन सुरैर्वदद्भिः पादयुगमीन ! तव ।
 जिन ! तेन पद्मजनिमेव कदा, जनयामि पुणितमिवाऽऽजयतिर ॥ २६
- इति गद्गदाश्रुपुलकाकुलित, कलयन् मनोरथमनन्यमनाः ।
 सचिवः शिवातनयमात्तनयः, क्षणमंक्रुनैक्षत पुरोगमिव ॥ २७
- अर्थं कल्पितास्त्रिभिर्भाक्तविधिभिर्गिरिमारुरोह सह सहजनैः ।
 सचिचो जिनःक्रमनक्षेषु पुरो-मानितेन शृष्ट इव मद्भुजु हदा ॥ २८
- तदनु प्रमोदरमसेन रज-भुक्तपाद एव विननाम जिनम् ।
 अपि चैव नेत्रगमिताक्षणा-प्रसरक्षणां निनृतमीक्षितवान् ॥ २९
- रचिताङ्गशौचविधिस्त्रिगणैः, सहितो जिनस्वपनह्युरथ ।
 जिनभक्तिरागमिव मूर्त्तमसौ, कलशेषु कुङ्कुमजलं न्यदधात् ॥ ३०
- अथ केऽपि भक्तिभ्रामासुरिता, स्फुरिता जिनस्य पुरतः परितः ।
 स्वममुत्सवं विदापिरे मधुर-प्वनिर्गातिरोतिमयवायलयम् ॥ ३१
- चदनाप्रभागगतपाणिलुग-स्थितभेरिदण्डमिपदत्त करः ।
 गुण्यमे करीन्द इव मन्दस्व, क्लिष्ट कोऽपि पापतरुपातपटुः ॥ ३२
- अपरः पयोदाववादभव-जिनर्द्धं शृदङ्गमपि वादितवान् ।
 ननुते दरदुस्त्रिमोगिषतेः, कृतिनां मनोमयमपूरुच्छे ॥ ३३
- अपरस्य वंशमपि वादयतो, मधुरस्यै प्रमदिनां इतिनात् ।
 यद्दर्मीलि पत्नपुटकेन रसात्, तदनेति कर्णे इव नेत्रमृगैः ॥ ३४
- अपरः पिबन्नापि शिवातनुभू-चनेन्दुरांगितिलुथा स्थिरदृक् ।
 नरासुजगार जनयन् जनता-ददि सम्मद ललितगतिमिनात् ॥ ३५
- चतुष्पा नद्यो सरसद्वृत्तवरा-दिह रंभभूतगुणा गुण्यमे ।
 कुलदेवतेन ताडिता तरला, बलदपुनोर्त्रिनरते पुन ॥ ३६
- इति सम्मदेन जिननस्ववयर्, गुण्यनाम्बुनि दर्शयति स तथा ।
 कपिसो यथाऽयमपि रैरत्नकः क्विन् दरलाटसस्यो दस्यो ॥ ३७

- स्वहृद प्रनोदविशदस्य रसात्, परमाणुभि पुर इव प्रसृतै ।
 सचिवेन सारथनसारसैर्नवमङ्गलभण्डनमकारि विभो ॥ ३८
- कुमुमायुवस्य कुमुमानि मना-नापि सम्मुत्तानि नहि यत्र ययु ।
 इह तानि तीर्थं प्रति सहटयन्, स भौ वृत्ती मदनतोऽप्यधिक ॥ ३९
- यमुनौघसङ्गमथिया सचिव प्रथितऽथ धृपमयधूमभरे ।
 प्रमदेन तक्ष्णमकारि तम सरिदन्वुनि द्युनिभि सवनम् ॥ ४०
- अथ तामस कवल्लिस्त चलिता ज्ञानरैतवन भ्रगमुद्रिरता ।
 नवदापिनापारिऋण चिर, निरराज यजिनमथ सचिव ॥ ४१
- स्फुटमष्टकर्मभथनोऽयमिति, प्रथयन्निहाष्टादिवसानि महम् ।
 स्वयमष्टमूर्तिमुद्रुन्दुसम, सचिवोऽष्टमु-न्यथिल दिशु यत्र ॥ ४२
- सचिवस्य दास इव गन्धर्जितो, जत्राह एष गिरिगूर्धि बहन् ।
 न वर्षे सद्यजनतार्त्तिभयात्, मुदितान्वपूरि सान्त्वानि पुन ॥ ४३
- देया स्वामिन् । पुनर्म सुरतपुरपुरोद्गौरुगानोति जल्प-
 तानन्दस्फन्दसारैरिव धटितमना नेमिनाथं प्रणय्य ।
 नाम नाम निकाम विधेवदापिपुर मान्त्रमान्येऽयमम्या
 शान्द-यद्युम्नस्तुत्यानापि पुर्लाकवयु पर्वतादुत्तार ॥ ४४

अथ गिरीशतटीषु मनीषिणां, परिवृद्धः परिपूर्णमनोरथः ।	
पडपि तत्र ददर्श कनून् कला-शुचिर्यं चिरयन्त्रितविभ्रमान् ॥	१
प्रकटितायसकूर्त्तिका भौ, मधुसलस्य भटा इव किंशुकाः ।	
भ्रमरसङ्घसितेतरविस्फुरत्-मुमनसो मनसो ददते मुदम् ॥	२
इदमभूद् दलयन् नलिनीः प्रियाः, मम मह-परिखण्डनहेतवे ।	
इति हिमस्य भिदाःमहिमद्युतिः, स्म तनुते तनुतेजितविद्युत् ॥	३
स्मरशिखी तनुमानिव चम्पकः, कृमुमितो मधुपावलिधूमितः ।	
दहति काननस्रीमनि काञ्चन-च्छविरहो ! विश्लोषितयोगितः ॥	४
स्मितसरोजमुखीमुखवासना-सुरभिमद्यशेषितसौरभम् ।	
परिहृतापरचल्लिङ्गधुन्ती-धनकुलं नकुलं प्रति भावति ॥	५
मुमनसां त्वमसि स्थितिभूस्त्वया, जयति विधर्मसौ कुमुमायुधः ।	
मधुमितीह रसालरसालसा, पिक्वयः कवयः कवयन्त्वमी ॥	६
स्मरन्मुपस्थ चरवमुपागता, द्विजचया मधुरध्वनिशालिनः ।	
मधुलिहः मुमनस्सु ददुः पदं, तिलकजालकृमातविभूतयः ॥	७
दधुरनङ्गनिपङ्गतुल्यमधो-सुखगिरीमुखराजविराजिताः ।	
सुटविकाशमुखः कमलाकराः, न पथि कं पथिकं प्रति प्रीतये ॥	८
स्तुतगुणं कृतकेन मधुमत्तै-रिव रवाकुञ्चितैः मुमनोमयम् ।	
मधुसलाय मधोर्विनियोगतः, शरचये रचयन्ति तमां लताः ॥	९
अथयति प्रथितारुणतेजसो, दहनमन्त्रमयादिच शयतः ।	
मधुसलोऽमनशोऽरुलतालतत्-कुमुमतोऽमुमतो विरहातुरान् ॥	१०
मलयजङ्गमसङ्घिभुजङ्गम-स्फुरितहू र्तिसम्भ्रमसम्पृतः ।	
पथिकुलोत्तृसां मलयानिलः, सुविषमो विषमोहमिव व्यधात् ॥	११
कमलक्रीमलद्रोशकुचोन्ते-रलिङ्गलालि द्रुञ्जासितसम्पदः ।	
वतत्किञ्चानि क्रायवन्त्रियो-ऽधिक्रमगो क्रमशोभत पाणिम् ॥	१२
कमलहान्तिहरी कृपातां नयन्, सद् द्विमादिर्दिनेन रिभाषरीम् ।	
कमलवन्धु हनोन्मनो यमो, शुचिरथे चिरयन् दिवसत्रियम् ॥	१३
द्रुतसनेतदिनापिपत्तिप्रभा-वांगलप्रतरोत्तर्नाङ्गणा ।	
भनिल्लोलदितिरत्नच्छलाद्, दिग्दनीन्कृचो नधु ॥	१४
भद्रान्दहारुणपात्रि मितेत्सो, वन ! रिभाष्यधराऽऽसितच्छ्री ।	
जमलि भृङ्गधुवा नवपाटले, विचरिच्छे च छिर्धेन मुदुर्दुः ॥	१५

तरलतारश्रागहृपङ्कज च्छदनच दनचन्द्रमरीचिभि ।	
तपनतापनता कृतिरथसौ, रतिबरोऽतिबरोरुपु जृम्भते ॥	१६
नमसि दर्पणतुन्वतडिछता, जलदपद्मतिरद्भ्रतडम्बरा ।	
मदनसै बगजत्रजयद् वमौ, कृतरवा तरवारिसितेतरा ॥	१७
चियदर्मीमिलदर्क निशाकर-द्वयमये नयने भयतो मृदाम् ।	
यदतुला तडित घनमालिका विकरवा करवालमिवाक्षिपत् ॥	१८
यदयनेतदवान्य तपस्विना, इदि हतोऽपि जिजीव मनोभव ।	
अपि भुनङ्गमुजा शुशुने मुधा-वचन वचन शिखिना तत ॥	१९
मदभिर्वाहितसिन्धुमहीरह-वन्नरिओपक्रमेतदिति क्रुधा ।	
अधिककर्ममह सहमा धनै, कवलित वलित तडिता मियान् ॥	२०
अपरना परतापरकृष्टिका-हनककेतककल्पि पद्पदी ।	
अमलकोमलकोरकसौरभ स्थितिपु जातिपु जातरसाऽभवत् ॥	२१
अलकूलोमधुनतमन्मुलाऽ भुजमुसौ जघनोऽवलसैरुता ।	
शरदि हसरवेग समाश्रिता, धृतरसा तरसा तटिनीमधू ॥	२२
कचन भवरे वाति तपायये, घनवटाभुजलानि मुमोच न ।	
विरहवद् दधती तपन व्यथा प्रदमम दममङ्गलराङ्गया ॥ सुग्मम् ॥	२३
पदमधत् गतस्य पयोमुच, सुहृद्गूयमसौ शिखिना गज ।	
गलितपत्रमयातपवारणैरग्निमव विभव महसा क्षिपन् ॥	२४
समुदिते मुदितेऽश्रुमहि प्रिय कुलवय वलय सरिता तथा ।	
अभूत सम्भृतसम्पदमर्यामा च्छिमिल भिमल च विभुमह ॥	२५
स्वरुचिर्विजयाय निजद्विप, सहसि सार्हासकोर निमावरी ।	
प्रतिदिन परित परिदर्पितो घमहिमा महिमानमुपायथौ ॥	२६
तुहिनम दतरा मलिनऽभिजनी-मल्लिनि मुञ्चति रामपरायणि ।	
फरगिहामिरहो ' शतपरिहा, सह सितं हसित परित वते ॥	२७
पद्मकारि मुख मुदगा सदा, विमलकातिनि तुङ्कुममङ्गिडने ।	
हिमरुच कमलस्य च सम्पदा, इमनिहामनिहाराविनुनया ॥	२८
तुहिनवाहिनाम इनुनवातभी-रुचिततुम्बिनतुङ्कुमकैत्रवान् ।	
वरतनुतनुमग्नि भास्वरा-तपननि पनत्रि रतनमण्डल ॥	२९
हिममरस्य तप प्रथिनोत्पन्न-र्यननहैरु पृथ मुञ्जो च्छम् ।	
नित्रैरपरवि निर्निनायम, दिनकरो न करोत कथन्नन ॥	३०

पुलककम्पितसूक्ततिभिः परि-व्यग्नकर्म विशन् हरिणीदशाम् ।	
हिममयः पवनो ननु कामिना-ममितकामितकारणतां ययौ ॥	३१
पथिककाननजमनोयन्न-व्यलनसम्भवधूममरोपमम् ।	
नवलयङ्गरजः पवनाहर्त, जगति रङ्गति रङ्गितपट्पदम् ॥	३२
दिनमयं नमयन् सहसा कृत्-स्मारजनी रजनीः परिवर्धयन् ।	
विरहितारहितासु सुखोर्मिका-रसमयः समयः शिशिरो वृशाम् ॥	३३
सततकुसुमितानृनृनशेषा-निति समकालमिहावलोक्य मन्त्री ।	
अधुनुत विदितप्रभुप्रभावा-त्तिशयविचारचमत्कृतः किरीटम् ॥	३४
शैलेऽस्मिन् पुरुहूतचौरमिधुनैर्मन्त्रीशनिनापित-	
श्रीमन्नेमिजिनेश्वरोत्सवमवलकौतूहलाकारितैः ।	
रन्तुं नित्यपडर्तुभृतिविभवद्भ्रमीभवद्वीलया,	
सान्धैरतिमन्दनन्दनवनीमुकतृट्टैः सस्यूहे ॥	३५
कुसुमाचचायमनसां श्रवणे, सुरयोभितामथ सरोजजुषि ।	
कुसुमादुषेय निभृतस्वनयो, दधतीव भेदमलिनो मलिनाः ॥	३६
वयमेव शल्यपदवीं गमिता, मन्दनेन सम्प्रति किमेभिरिति ।	
अवचिन्वते स्म कुसुमानि तदा, रमणैः समं सुरकुरङ्गदशः ॥	३७
नववृक्षमूर्ध्नि यदकारि तप-स्तपनातपेन धृत(गममैः ।	
तरुणीकरग्रहणपुण्यफल, नवपल्लवैरिदमलाभि ततः ॥	३८
नवपल्लवा निजविभूतिद्वतो, वनवर्तिनः स्फुटमशोकजुषः ।	
परिकम्पिनो हृत्पदादरुणै-स्तरुणीकरैर्विभिद्विरे रभसात् ॥	३९
कुसुमार्पणेषु रमणः सुदृशा, प्रथितेऽन्यतान्नि लघुतां गमितः ।	
हृदयत् तदाचतस्त्वेन सह, अस्तितेन तूलवदकार्षिं बहिः ॥	४०
ददता प्रमूनमपराभिधया, दयितेन वज्रनिभयाऽभिहृते ।	
हृदि मानिनी ननु विधाय दृशं, सज्जलमचागतमुव घसितम् ॥	४१
उदितं प्रियेण निभृतं चतुरा, परगोत्रमश्रुत्वकी च रहः ।	
तदुरस्थपुष्परजसि अस्तितं, व्यभितापमधु च तदुद्वयने ॥	४२
सृजता सत्रं गिरसि पद्मदशो, मृदु चुञ्चता प्रियतमेन परा ।	
अपि शेषुषीरुष्यतया न रसाद्, ददशो परा न तयाऽपि रूपा ॥	४३
सकलस्वक्रीयकुसुमस्वहृति-प्रतिपन्थिनीः प्रति च्छयं सुदृशः ।	
अमुचन् शीलिसुस्तदानि लता-, समगूषयन्नहह । तान्यपि ताः ॥	४४

अथ काननान्तरविहारस्य चन्द्रखेदभेदरभसेन ययु ।	
दयितै सम मृगदशोऽम्बुनिधि प्रतिहस्तक सवनहतु सर ॥	४५
तरुणीसमागमकशेन जवात्, किल पञ्चलोऽजनि मुदा द्विगुण ।	
विलसत्तरङ्गकरकोटिरय, तिरयन् निजा कमलिनीदयिता ॥	४६
अतिदूरत सरभसं रसमाक, समुपेय लोलविषयव्यसन ।	
कुचयोर्विल्लठय सुदृशा निलय, प्रययौ तरङ्गनिकर सपदि ॥	४७
दयितेषु तोयजवनेषु गते, रभसेन यत्र कलहसङ्कुल ।	
सरसी रराज सुदृशा वदनै, कुचमण्डलेरपि च फेनभरै ॥	४८
हरिणीदृशा कलितरागभर, कुचसङ्गमेन परिवृद्धरसम् ।	
बुडदम्बुजम्भकपटेन सर, परिमीलयत्यतिमुखीव दृश ॥	४९
अवलोक्य कोऽपि रभसेन जन, विपरीतलोचनमुदाररस ।	
हरिणीदृशा श्रुतिसरोजदृशाननचुम्बनव्यतिकरो हसित ॥	५०
अभिसेचनेन नयनप्रसृति प्रसरत्कटाक्षरसतोऽनुपति ।	
अपरा सखीं प्रति करप्रसृति श्रुतनीरशून्यजलकेलिरमूत् ॥	५१
द्रुतमुद्धृतेऽम्बुजमिति प्रकट, तुडितस्य वारिणि करे कमितु ।	
विदितस्य वीस्य मुखमस्य नवा, रमणी न किं किमकृत प्रपया २ ॥	५२
इदंकेलिरसप्रसन्नमनस स्वर्गोक्तो भास्कर,	
यातेऽभ्यम्बुनिधि सर तुमुदिनीशेधप्रबुद्धशपा ।	
श्रीमन्त्रीधरचस्तुपान्दयगस्ता शुभे सवैवाम्बर	
क्रोडे वैभवापिप्रविष्टपतन स्तोमन जगुर्दिवम् ॥	५३

किञ्च—

भास्त यावदखर्वपर्वतपद्म गुर्वायमुर्वी अथ,	
तावन् दतु वस्तुपाल ' जगतापुग्गैरगणवैभवात् ।	
येनैता मुजगापिपस्तव भुजे विषय्य नागाङ्गना	
गोश्रीगीगभषपदा श्रुतिरसैराचान्तचिचोऽभवत् ॥	१
आत्रभापि वृन्नावृति द्वित्रपति स्व मूर्धनि स्वर्गुनी	
धौते धारयत् जापतिरमावष्टयो गुगप्राहिणान् ।	
सद्य सङ्गतवन्मसु चमुभरै पुग्गानि पूषा क्षिरो	
नृष दानवतामुभाकपि शुनाचवी चमन्ते गुपी ॥	२

श्रीवस्तुपाल ! रणभाजि भवच्छपाणे, धाराधरेऽपि परवारणविभ्रमेऽस्मिन् ।

उत्पथ्य क्रोपतरलं सहसा जगाम, खड्ग्रामसिंह इति स स्वयमेव भङ्गम् ॥ ३

वस्तुपालसुकृतापृतप्रपा, काव्यमूर्तिररिसिंहमूर्जिता ।

कण्ठद्वारसपायिनः शिरः, कम्पयन्ति किल यत्र क्रोविदाः ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहदिनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्तननाग्नि महाकाव्ये पङ्कतुवर्णने

नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥



तदनु वदनकान्तिपल्लवेन्दुः शृतीन्दुः, समुदितमदपाने पूर्णयात्रामिलय' ।

इह विहितनिवासः फाग्यसङ्काशकोर्तिः, ऋणितविततकर्मा निर्ममे सङ्गभोग्यम् ॥ १

मलयजमयमम्भः पादयोहत्तमाङ्गे, घनमथ घनसारं चोत्तरं चाह चाङ्गे ।

यश इव निजमीदृग्मपमारोभ्य तेन, स्वयरसमुपनीता' साधवोऽगाधबोधः ॥ २

सन्नं यन्न तदापि स्नकनकस्तोमैस्तुच्छराये,

तस्मिन् बच्छति यान्छनाधिकतरं दीनेषु दुरावपि ।

मन्येऽरि ततो गर्नीरिमजितो रत्नानि रत्नाकर-

स्तस्य स्वैर्यनिराकृतथ करदो हेमानि हेमाचल' ॥ ३

किं तूते कर एव हेमनिकरं श्रीनेमिमक्तिक्रिया-

तुष्टै रैवत्काभ्दिवतकुलैः किं वा निधिः पूर्यते ? ।

इत्थं याचकसञ्चयद्वय किमपि स्वस्यापि बाण्ड्याधिकं,

तस्मिन् यच्छति खेनेरेवपि नमन्कारश्चकार स्थितिम् ॥ ४

वदानी दीनोषे मुद्गरुपि गृहीत्या बहुतर, स्वयं निर्विण्णेऽस्मिन् वददयमनिर्विण्णहृदयः ।

महो ! किञ्चिन् कोऽपि क्वचिदपि न याचेन वचनं, निरादुर्बायदं धवलकपुरे गन्तुमुदितः ॥ ५

दुष्कर्माद्रिपतिः पवित्रमहिमा नास्यां कदाचिन्महा-

मोहध्वान्तरविः प्रविश्यति भृशं सहो महोत्साहवान् ।

इत्थं पापलिपिं बिलुप्य करणे भालोषमं वामन-

स्थल्याः पुण्यदिनं चकार मुकृती कुर्वन् प्रवेशोक्तसवम् ॥ ६

कर्पूरामुरुधूपभूमपटलेहश्चिन्मनागैः प्रति-

प्राप्तं तीर्थंश्रुतामनेन वृतिना ये ऋषिरे वारिदाः ।

तैव मुदिते जलं पवि तथा प्रेम्णैव वृष्टं यथा,

सपूषानि सरोवराणि न पुन सिफोऽपि मार्गोऽनसाम् ॥ ७

स्वस्थानप्रसूतस्वत्रलभजनप्राग्भारसद्य परा रम्भारम्भपुर प्रसू वरननोवेगावकृष्टैरिव ।

साक सद्गजनै समुञ्जितमोभारैस्तदौ सुक्यतो, गच्छद्विर्ध इलकक्रामिभपुरोपान्त प्रपेदे कृती ॥ ८

स्मेरक्कास्मीरनाम्पुुरितपथतया रागमासाद्य सद्यो,

लीलालोखपताक्राद्दलतरलचम कारिचञ्चकटाक्षा ।

जातक्षोभा पुरीय सन्निपुलपुलकार्कणैर्दूदाद्कुराग्रे,

प्राप्ते श्रावस्तुपाले सति सचिवशचीवल्लभे बल्लभेऽस्मिन् ॥ ९

इय सर्वाङ्गीगप्रगुणितविभूषा किल तदा, तदारोष यावत् क्षयमिव पुरी भासुररसा ।

अभूद् त शूया हृदय द्य याने पुरजनै, सम श्रीमन्त्रीय प्रति सरम्भस वीरपवले ॥ १०

श्रीवीरपवल्-त्तेज-पालामिभसचिवमध्यग सचिव ।

त्रिपुरपरीतिस्थापितहर द्रव हरति स्म तत्र मन ॥ ११

भास्वन्नि स्वानभेरीमुरजभरज्जनिध्वानसन्तापभाति-

श्रटाहङ्कारैरेवीरतरमसपरीरम्भसम्भद्वष्टै ।

शक्रायैर्देवकैरपि सचिवपति स्तूयमानस्तदानो,

प्रारम्भेऽसौ प्रवेश पुग्नि पुञ्जकेवपु पौरदक्षीयमान ॥ १२

अथ पृथुक्रगतुष्टैरतदु सद्गयत त्रिभुवनमपि शब्दैरब्दसवाषडूकै ।

नवमीगतिविदम्बा मागथा भागधेय प्रगुणितगुणगात्र तुष्टदुर्नन्त्रिरागम् ॥ १३

जय जय नवशालिन्नासमुद्रान्तर्गृही वलयनिलितकर्तौ ! मन्त्रिचक्रैरुत्तम ! ।

दलितकलित्रिडास ! प्रस्तुगतीर्थयात्रा इतद्वृत्तयुगनव्यप्रस्तुते ! वस्तुपाल ॥ १४

बलिपि कटिकाळे याचक्रालीकराले, यदि भ्रामभविष्यद् दानवो दानश्रीषु ।

इति भगवदलोकार निधुयन विनाऽपि, स्वयमयमगमित्पद् देव ! पातालमूलम् ॥ १५

श्रीविभानास्वदमपि मदाद् दासयस्याऽऽ रष्ट,

स्यष्ट तुष्टो जनयसि जन धीविन्द्रिद दरिद्रम् ।

सामर्थ्यं ते स्वयमिति समालोक्य पाता न सौस्थ्य,

नो दौस्थ्य वाऽपि ! शृणु लिप्तश्च यथाभावनीया ॥ १६

सद्ग सद्गतगौरै सह सदा कार्यो न कार्यं पुन

नाचैराऽद्यनादश जल्पत पुत्री पुराऽपाठि यत् ।

तस्या तपठनस्य नि शठनया पाठ ददया दधे,

मुद्रा हाटकपट्टिकेव सलिपि श्रीवस्तुपाल ! त्वया ॥ १७

- धीमन्त्रिसुहृत् ! भवदीयविपकलङ्घ दुःकीर्तिंमिच्छिसुयन् परितः परीतम् ।
 काह स्फुरामि तव कीर्तिरितीव वस्तु, कर्णोपकण्ठमगमत् पलितच्छलेन ॥ १८
- श्रीसोमान्वयवार्धिवर्धनविधो ! मन्त्रीश ! वानीधरी
 लीलातन्प ! भवानकन्धि जगत साधारणो वेधसा ।
 इत्थ दाननिदानवैभवमवद्गालस्थलस्थापितै
 रैवैभिर्भिवाक्षरैर्विमयभाग् दुःस्थोऽपि सौस्थ्य दधौ ॥ १९
- कोपे पावकृततमार्गगसम चक्षु क्षिपती पुन,
 प्रीतौ मौक्तिकदामसोदरमिय भूरेव मन्त्रीश्वर ! ।
 उजासन्निधन धने च ददती प्रत्यर्थिनामर्थिना
 मन्येषा क्रिमु चापयञ्जितुला किं कन्पवञ्जितव ' ॥ २०
- आदोलयन्ति कृतिनस्तव कर्णदोला लीलासु ये गिरमुदारमुदा रसाढ्याम् ।
 मूकल्पवृक्ष ! तनुपे निजमौलिकम्पात्, तेभ्य फल दिवि यदा कुम्भान्युदस्यन् ॥ २१
- का शक्तिर्मुसदा सुधारुचिरसापेन क्षयी प्रायते,
 तै पश्चान्नरितोऽस्मिन्नैरपि समे निव्रन्तु दैव्यात्तत ।
 अक्षीगस्य सदा त्वदाननसुप्रामानो विवन् वान्सुधा
 मेन सव बलस्य बीरधवलौ यावन्न सन्नदते ॥ २२
- असौ ते सचिवावतस ! निविडाहङ्कारकारस्करा-
 वटम्भस्थिरपीठपट्टिमहाकुम्भभ्रम भेजतु ।
 कुम्भावभ्रमुभर्तुकुन्दुरहरिस्फूर्णस्करास्फालन-
 त्रस्ताऽसौ परिह्वयन्तिवसुग्विता विश्राम्यति श्रारिह ॥ २३
- बुद्धिलेतेव तव विस्फुरिता समस्त शाखापृत्तरिह भूते हृदयालपाठे ।
 श्रीवस्तुपाल ! मुञ्चि बद्यमवा प्रसून-मालेव मौलिपु न कैरघटि त्वदाज्ञा ' ॥ २४
- श्रीसोमान्वयकुम्भोद्भूततुलाघ्न पतदुर्बल श्रेयोयष्टिरनिष्टविष्टपविप सन्दोहलोहार्मन्या ।
 श्रीविश्रामतरु पराक्रमकरिस्तम्भो रिपुक्षोणिभृद-दम्भोलिस्तव भाति गूर्जरधरोद्धारैकधुर्यो भुज ॥ २५
- अग्नौ भृश सन्ततसञ्चरिण्यु-ल्लम्पीपदालकरकरककति ।
 भवत्करान्मोरहवद विनास्ति, कृष्णारिनारचिह्नुरालिपालि ॥ २६
- असन्न सन्नञ्जे बद्धि विहरन्मार्गगाग स्मयस्मरे मेरो कटकमटित कपपिठपो ।
 इति व्यक्त युक्त सचिवकुलदोटीर ! करञ्ज-जन्मव्याजेनाथ मगिसुदुटयन्धस्तव करे ॥ २७
- फिल जगति भयदगति विलोस्य, स्वगतियश इतिनीरय सुरेभा ।
 सचिव ! तव भुजेऽपि भूमिभार, दधति पदात् पदमप्यमो न च्छेद ॥ २८

- वनरुमद्रुगऽस्मिन् सेवना देव ! ज्ञानं, तत्र सचिव ! नमन्त प्रीतिमन्त समन्तात् ।
 नसद्विचित्रत्रयीर्चाधीतभास्वधौल्या-रततय द्यामी भूतिभार भजन्ते ॥ २९
- दत्ति पर्यमान्गुणगोचो रजो-दुरवद्विशृन्दवरभारतीभरै ।
 जिनदवतालयपुरस्तर शनैः, प्रबिबेद्य पचनमसौ महामनि ॥ ३०
- अथ त शिलोऽभितुमाहुल तुल, मुदगा गवा अपदर्शु कौतुकात् ।
 अचरत् तदाऽर्कृतमुकत ज्ञ क्रियमाणमनेतति दर्शितादरम् ॥ ३१
- विरचय्य काऽपि मणिगुणल श्रुतौ, द्रुतमेकमेव चलिता कुतूहलात् ।
 जगदुत्तमाननद्रुदोशयस्मय-स्वयमागतपुमणिमण्डला वधौ ॥ ३२
- औमुस्थभावदृशतभूपर्षेपरित्या, कृणांवलन्वितमपिश्रितकृष्णान्याम् ।
 काचिच्चकार जितुञ्जरुम्भशोभे, पीन्नेनेतस्तनतटे सुकृटावग्रन्धम् ॥ ३३
- औमुस्थत काचन चित्रकार्यं, करं गृह्णीता नृगानामिमेव ।
 स्तिन्वाङ्गनभ्रान्तिवशात् किलन्ती, नत्रदये तत्र दधौ मृगन्धम् ॥ ३४
- वैरुन्मान्त्वमिलित सुगुम्भेश्वरस्या, पक्षान्तरप्रसृतर कनरीकलाप ।
 सत्रायस तुमुमकार्युक्तसन्निधान, वृथ्वीचरानिन निह तुमपादनङ्ग ॥ ३५
- ताडङ्गमेक कर एव काचित्, तदा बहन्ती नपल चचाल ।
 त्रैलोक्यजेरस्मरचक्रवर्ति पताकिनीवाप्रविलासिचक्रा ॥ ३६
- आधात् पदे सपाद काचन काद्यतस्य, द्वित्रीरमङ्कुणितकौतुकमेकमेव ।
 शीपु स्वकीयविजयध्वजिनीपु विधे, दत्त तु वीरकटक नकरप्वजेन ॥ ३७
- शृत्वैरुमेव निजमङ्गनमञ्जु नत्र-मात्रिभ्रती परमनङ्गनमेव काचित् ।
 आभूषित नु सहज नु विशेषदय, जालागता तिल विचारयतीव जैके ॥ ३८
- काचिन् तदा मन्त्रिवर निरोक्ष्य, कञ्चिद् निभाव हृदये बहन्ती ।
 दद्याधग पाणिपुटैश्च स्व, पिण्डीकृत पाटयति स्म हारम् ॥ ३९
- काचिद् मुजाभ्या वहिरङ्गभावा च्छून्य यदाऽऽलिङ्गनमाततान ।
 अन्तर्गते मन्त्रिबरेऽन्तरङ्ग-भावादग्न्य हृदये तदाऽऽसीत् ॥ ४०
- इत्थ गौरवगौपौरसमगीरहृत्कटाक्षच्छटा-मुच्छ्वायमपूरपिच्छटितच्छत्रच्छविच्छादित ।
 मन्द मन्दमन्दवन्दितवचनैरानन्दमानो ययौ, धन्य सौधमसौ घरातलमुधाधाराधरो धीश्री ॥ ४१
- मूर्त्तार्त्तीर्षपतेरधाऽऽल्यपदेऽ-वारोच्य लोक पुन,
 सम्मानोचितचातुरीपरिचित सर्व विसर्ग्य क्षणात् ।
 साक्षादकृतपात्रपूतितकरप्रेय प्रमिद्धाङ्गना
 रङ्गन्मङ्गलपरिधत्त स गमयामास स्मितो वासरम् ॥ ४२

किञ्च—

- तात ! ख्यातगिरः सुता मम हता ही ! कालिदासादयो,
 नन्वेकस्तु चिरायुरस्तु जगति श्रीवस्तुपालोऽधुना ॥
- मार्कण्डः स्फुटमाशिषा शमवतामल्पायुरन्येष यत्,
 कल्पायुर्वैयतीति वाम्निगदने धाताऽस्तु जातादरः ॥ १
- श्रीवस्तुपाल ! भवदीयशोऽङ्गजस्य, शधन्मभोऽङ्गणविहारमनोहरस्य !
 सारङ्गसङ्गतकरस्तरवारिधारि-रक्षाभद्राश्रियसुरीकुरुते सितांशुः ॥ २
- सिन्धुराजदिग्योऽज्वलं यशो, वस्तुपाल ! तव चन्द्रवद् दिवि ।
 यत्र दुःखपटलीमलीमसं, सिन्धुराजसुखमेव लान्छनम् ॥ ३
- यत् कवेर्लवणसिंहजन्मन, काव्यमेतदमृतोद्दीर्घिका ।
 वस्तुपालनवकीर्तिकन्धया, धन्यया किमपि यत्र खेळितम् ॥ ४
- प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मि-द्भिरसिंहविनिर्मिते । इमान्यहत्त चत्वारि, कान्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्तननाम्नि महाकाव्ये पुरप्रवेशो
 नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥



- आसाद्य वीरध्वलाधिपतिप्रदत्त-श्रीस्तम्भतीर्थनगरप्रसुतामयासौ ।
 कीर्तिः क्षितौ तनुमतीस्त्रि कीर्तनानि, कर्तुं समारभत मन्त्रिशिरोऽवतंसः ॥ १
- पञ्चसाराङ्गमणहिल्लपुरीपुरन्धी-सीमन्तरुनमिव पार्श्वजिनेशवेश्म ।
 उद्वूल्येन यशसा जनिता जगत्या, हस्तावलम्बनविधिर्नराजङ्गर्तिः ॥ २
- श्रीस्तम्भतीर्थनगरे रचयाञ्जकार, भीमेशवेश्मनि च फाञ्जनफेतु-कुम्भौ ।
 मूर्त्तैव कीर्तिरनिशं दत्तैज्यन्तं, नर्त्तितं यत्र दिवि देवनदी जयन्ती ॥ ३
- उत्तानपद्मज(त)निष्ठ पुरध्व भद्रा दित्यस्य मूर्धनि च काञ्चनशेखरं सः ।
 तत्रैव दूरतरतापयश प्रताप-कारस्करद्वितयसम्भववोजगमूत ॥ ४
- भद्रार्कपूजनवने नदकामिधाने, कूपं व्यधापयदसौ क्षितिनाभिरूपम् ।
 दूर्वाङ्कुरप्रकरकर्तुरिताङ्गुल्या-मार्गापदेशमिलितासितरोमरात्रिः ॥ ५
- जग्नेऽपि तत्र वकुलाभिधचण्डभानो-रुचैः सुधामपुरमण्डपकैतवेन ।
 स्पष्टीकृतोऽयमनुना प्रभवप्रभावो, मूर्धौ चमत्कृतित्ते स्वयश-शशाङ्कः ॥ ६
- श्रीमान्स्वगण्डपदमण्डपमत्र मन्त्री, श्रीवैद्यनाथधिवसन्न यदेष चक्रे ।
 रोगव्ययाय इतिनां दधदोपरिर्गैः, तत्रावतारमश्रुत स्वयमेव देवः ॥ ७

- उधै पद नित्रयशोभरसोदरस्य, तत्रस्य तत्र विदध यदशौचमा या ।
 तत्र स्थित तदनुवासरमामभासा, विनेयवस्तुषु हसतुपरिप्रतिष्ठम् ॥ ८
 अनेय साधुदृढतयऽद्रुतपुण्यवत्त्रयी-नरोपम वसतियुग्ममसौ च द्वार ।
 यत्र प्रतिक्षणमहो सवस्तुभूता, भूमिभ्रमं बहति वदनमालिनेच ॥ ९
 आरोहृश्वैभवधृत तहमीनिवासौ, दुग्भस्तर्नामुभयपक्षगवाक्षनगाम् ।
 नेन प्रपामपि रसप्रसरप्रशरया, वीक्ष्यैव यामयति मद्भु न निर्हृति क्व ? ॥ १०
 तेन व्यथाधि धवल क्वरपत्तनश्री लीलातुरोदायमिवाऽऽदिजिनेन्दुचैत्यम् ।
 मुक्त्वाऽपि बडुभजनाननपङ्कजानि, यत् धीरते बनमिलोचनचक्रांशु ॥ ११
 भ्रमपि तेन वसतिद्विचय मुनीना, हेतोरकारि सुहृतामृतपानपात्रम् ।
 यस्माद् द्विधा प्रसुम्भ शुचिकीर्तिश्रे, विप्रस्य धयन्ति विल्लूतहारशोमाम् ॥ १२
 या कीर्तित्य समर्द्धिह रागकारुण्य भ्रष्टारकालयनमुद्वरण रिधे ।
 तस्या भुजङ्गमजगद्गमनाय मार्गं, वापीमिपादयामिहैव कृती वितने ॥ १३
 सा क्वऽपि कोमलयोऽङ्गजवर्धनाय, धात्रीम तेन रचितेयमिह प्रपाऽपि ।
 या पूरयेत् दृषितेषु तदावजात-मयेषु केषु न पय कलाम्बनोथम् ? ॥ १४
 शत्रुञ्जयाद्रिमुकुटस्थ पुरो जिनस्म, तेनेन्द्रमण्डपमिद तदकारि किञ्चित् ।
 अन्येकनारमधिगम्य जना यदन्त र्नामातरऽपि न भञ्जन्ति कदाऽपि तापम् ॥ १५
 अत्र व्यथापयदय नवमुज्जयन्त श्रीस्तम्भनाधिपजिनाधिपचैत्ययुग्मम् ।
 तच्चेतुकैववक्ररहितवेन कीर्ती, रम्येन्द्रमण्डपगिराभुवि नृत्यतीव ॥ १६
 लक्ष्मीर्मेधाऽवलमिता जगदेकमर्तु भैरव्या ततोऽत्रलयायेयमिमा च देवीम् ।
 वाम्भूर्द्धिमत्र इचयतिष्ठि ज स्वनेक-माङ्ग प्रमीगमपि वाग्मिनमप्यज्ञान् ॥ १७
 मूर्तीर्विधाप्य निजपूर्वजपुरुषाणा, तेनात्र निररुचिपद्मनिभैस्तदास्थै ।
 गा प्राग्विता रजनिसाठनशीलपद्म-दु स्था क्रिमेनमपि सुचति साऽपि लक्ष्मी ? ॥ १८
 मूर्तित्रय हरिकरिस्थमधूरि तेज-पालस्य वीरधरलस्य तथाऽऽज्ज्वनोऽसौ ।
 सञ्जद्रमुदुरकलिप्रलयाय मूर्त-मडव गुणनवमिवात्र पावनदेशे ॥ १९
 चत्वार्यय चतुरधीरबल्लोचनाऽन्वा प्रद्युम्न-शाम्बागिहाराण्यवतार्य तत्र ।
 तत्रमनीतिनिवहस्य चतुर्मुखचार, धातु श्रिय निदधनोऽपि बभूव धाता ॥ २०
 आलोक्य वीक्षितपुरातननूपभक्त्या चै यत्रिया तिनपतैस्तमतीमभक्तम् ।
 अतथमश्रुततया गिरमीव क्लृप्तौ, पाणी तदीयवृत्तोरणकैतवेन ॥ २१
 श्रीतुत्रत भृगुपुरादयमत्र मत्री वीर च सत्यपुरत पुरतोऽवतार्य ।
 ताभ्या सदा विहितदीपनोहराभ्या, लोकरूपांमपि मुदा विशदाचकार ॥ २२

- भामण्डलप्रतिनिधिर्विदधे जिनेन्दो-र्यस्तेन तत्र मणि-काञ्चनपुण्ड्रः ।
 तत्कात्तिभिर्विदिलितेषु तमस्तु चैत्ये, दीपा जयन्ति यदि पूजनमङ्गलाय ॥ २३
- यच्छातकुम्भामयतोरणकुम्भजालं, तत्राधरीकृतारविच्छवि तेन तेने ।
 तेनायमदिपतिदयत्तरप्रभातः, सम्भ्राज्यतेऽप्यदृहृष्यैल्लद्वौधीशः ॥ २४
- यद्यन्धरे सुरसुरोरिव मे व्याधात्पद, वेधाः स्थितिं तदहवन्न मुहुर्निरिश्य ।
 अञ्जलिहादिपतिमूर्धनि कर्तनीय-मेतेन कारितमसङ्ख्यमवर्णयिष्यम् ॥ २५
- श्रीपादलिप्तपुरसंधि सरः स चक्रे, यन्ध्यातिरंक्रमधुरे लुडतीन वरि ।
 नित्यं नितान्तमधुरीभवितुं सुधाधुग्-भोग्यः सुधारुचिरपि प्रतिमामिषेण ॥ २६
- एष स्फुरद्गुरुमुनिप्रसरामिहैव, स्वर्द्धण्डद्वर्धनपरां वसति वितेने ।
 यस्यां यथा सितरुचिर्विशदः स कोऽपि, जज्ञेऽस्य यत्र विपुरेव वभूव चिदम् ॥ २७
- तत्र प्रपेयमपि तेन नवा वितेने, यां प्राप्य शीत-मधुरोऽम्बलहारिवारिम् ।
 पीयूषपुण्ड्रहिमधामजमेव गर्व-सर्वस्वमन्यजगतोर्जगती वमन्न ॥ २८
- माधुर्यपूर्यमतुलासूतकुण्डद्वन्द-स्फुदानुचिद्वमिय यत्र जलं राज ।
 धामेऽर्कपालितकनामनि तेन तेने, पातालमूलगतसातगुरुस्तडागः । २९
- श्रीस्तम्भनाथस्यसुतीर्थपतिं निभाष्य, द्रुमुद्धुपात्तलजिने च स उज्जयन्ते ।
 द्वेषोन्धिनैर्दिवि यशोनिरदादपूर्ध्वं, द्वैराग्यदु-स्ममृतांशु-नभःश्रक्तयोः ॥ ३०
- स स्तम्भनाभिधुषुऽद्भुतसुदधार, श्रीपार्श्ववेश्म क्रिमपि स्मितवैभवं तत् ।
 यमागतौ नवकृतप्रतिमाच्छेन, कौतूहलाद् विमल-रैवतकादिदेवौ ॥ ३१
- तेन प्रपादयामिहापदि पार्श्वपार्श्वे स्थित्यैव तादृशमुणप्रमुग्ं क्रिलैतत् ।
 छायामनोज्ञममृताभजलं विभेद्, तापं वहि स्थमवहि स्थमपि प्रजायाः ॥ ३२
- श्रीवैद्यनाथसदनात् क्रिल मालवेशो, दर्भाक्तीभुवि जहार सुवर्णकुम्भान् ।
 श्रीकिल्बिंस सचिवस्तु स वस्तुपाल-स्तारिन् दधी दित्तपतिप्रतिमचिपस्ताम् ॥ ३३
- चक्रेऽर्जुदाथ्यगिरिर्मूर्ध्नि निजाप्रजन्म-श्रीमल्लदेवसुकृताय स मल्लिदेवम् ।
 तदेहदीपितिनिरजनमञ्जुलाभि-स्त्वैश्यामितं भृशममुष्य यथा यथाङ्के ॥ ३४
- शक्तः क्व वस्तुमहमन्यमविर्बहूनि, श्रीवस्तुपालसचिवेश्वरकर्तनानि ।
 यत्सङ्घचया दिवि विधिर्यभितोद्भुनिन्दन्, शीताशुना सटिक्रयैव फलानि व्रातुम् ॥ ३५
- ईदमन्त्रिक्रीटकीर्तनपटाराहटचमानैर्मुहुः,
 कर्मिणा निबहैरहम्यथनिहायदम्भसरम्भिभिः ।
 तन्मानाधिक्वर्धनम्यसनिभिर्मन्ये विभिन्नं नभः,
 स्वर्द्धण्ड-च्छल्लक्ष्यमाणनिसदप्रस्फोटरेरकस्यदम् ॥ ३६

क्रिय—

विश्राम्यन्तु भुजङ्गराज-रजनीजोविंश-राजीविनी-

जीवातु-स्तनयित्तवो ! नवनवप्रीया भवन्तधिरम् ।

उत्तमं भुजया यशोभिरमलं दीप्रं प्रतापैर्द्विप-

द्वामैः सिक्कमिदं तनेतु भुवनं श्रीवस्तुपालः सदा ॥

१

विश्वं न स्यादनीदम् नितिलमपि कदाऽन्येष लोहप्रवादः,

कल्पे कल्पे ततस्त्व नदयसि विदुषो लब्धपुण्यावतारः ।

कल्पद्रुः कामधेनुप्रदशमणिरपि श्रीवसन्त ! श्रवन्ती-

भूयान्भोधिं गतानामिति भवति भवदानशारां विवर्त्तः ॥

२

स्फूर्जकेनावलिवलयितोत्तल-ऋष्टोल्माला-

लंलालोलजलधिवलयव्याजतो वस्तुपाल ! ।

क्रौडन्येता रणभुवि भव कर्त्तव्यं स्तम्भतीर्थ-

प्रान्ते प्रीतिस्तवक्रितरसाः शङ्खदुष्कीर्त्तयध ॥

३

विश्वेऽस्मिन्नरिसिंहकोविदकृतप्रौढप्रवन्धाद्भुत-

श्रीमन्त्रीधरवस्तुपालयशसी पीयूषपुरोपमे ।

एते हर्षवशादशेषविबुधैरास्वादनये विध.-

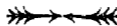
सद्भ्रान्तया क्षणलम्बसिद्धिविभवे यावज्जगन्नन्दताम् ॥

४

प्रतिसर्गं प्रवन्वेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत्त चत्वारि, कान्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्त्तनान्नि महाकाव्ये सकलकीर्त्तन-

कीर्त्तनो नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥



गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवकविविरचित-

कीर्तिकौमुदीमहाकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः ।

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
अकल्पयदन	२६	१८	अनेन सत्यापित	७३	४१
अकारयदयं	३२	१८	अन्धा एव	३७	३५
अक्षेपु नित्यं	९	३७	अपरोऽपि विधास्यते	७७	२१
अगस्तिभिः संव्यव	६९	३२	अपासौरुषो	२५	८
अग्रे शङ्खचक्र	१७	२३	अपि तादृश	१०	३०
अथ गूर्जराज	४२	१८	अपि भूपल्लवो	४२	२४
अथ गोद्रहलाट	५७	१९	अपूर्वं तस्य	४३	१४
अथ चेतसि	७८	२१	अपूर्वं मन्त्रि	४८	१४
अथ चौलुक्य	१	७	अपूर्वः कोऽपि	१३	१३
अथ तत्रैव	६२	९	अन्यरातिशरा	८०	१०
अथ दशरथकल्प	११५	१२	अभिरामगुण	२३	८
अथ धर्मैक	१८	३४	अन्यर्च्य भक्त्या	७१	४१
अथ पाथोविनी	१	३४	अन्यधर्ममान	१५	३८
अथ सचिवमचस्य	९१	२२	अश्रुलिहृप्रसथ	५१	४०
अथ स व्यथितोऽपि	८०	२१	अमर्षणो मनः	२७	८
अथास्तिपः सैप	३५	२८	अमात्यमत्यर्थ	४५	२९
अथैरुदा कन्द	८३	१०	अमात्यमालोक्य	७	२६
अथोजगाम वामलं	८	३४	अमी सुमनस	४२	१४
अथोजगाम मामन्तः	२७	३०	अमृतैर्मानस	३३	४
अथोदयति	१	३०	अमेयमहिना	१७	१३
अथोष्मणि धीम्	४१	२९	अये जगति	३९	१८
अथरैश्वरी	७३	३३	अयि वेत्ति भवा	७५	२०
अथियकाधिष्ठित	५४	४०	अरातिराज्य	८२	१०
अथ्यश्रमध्वस्त	२४	३८	अर्जितास्ते गुणा	२८	४
अनरुपादीनि	४५	३१	अरुणुडहरि	८०	६
अनिच्छतीनां निज	६२	३२	अवधार्तितथान्य	४५	१८
अनुक्रमेण	१७	३८	अवनमददृतां	८१	३३
अनेकानोरुहच्छन्ना	५०	५	अवनिषत्सिनेन	७९	१६

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
जवलेपमलीक	७९	२१	आभाति यस्य	७३	६
जवलोक्तिमात्र	७१	२०	आरुह्य सखादपि	२२	३८
जवलोक्त्य जुलुन्य	६२	२०	आखिङ्गितः समे	२२	३४
जवस्यं नघरे	४६	३५	आखिङ्गितायाः सुम	७५	३३
जवाखितानि चापानि	२६	२४	आवयोस्तु पितृ	६२	१५
जवाप्तवेदान्मुषि	१००	११	आवर्जिता जिता	२	७
जविधामेव	५२	३५	आविर्वीमूव	२८	३१
जश्रुप्रवर्तकर्ममै	३४	४	[भाविट इव]		२३
जघरात्रात्मजा	४१	१४	आशायामशिशिर	५६	२९
जसङ्ख्यहरि	२६	८	आ सम्भवा	६६	९
जसतोरवलं	५८	१९	आसाव कन्दर्प	७१	३३
जसौ गुणोक्ति	१८	७	आसावते यया	३३	३५
जस्ति हस्तिमद	४८	५	आस्तां तावत्	४०	४
जस्मान् सुषेनो	९	२६	आस्ते सहस्तः स	९६	११
जस्मिन् कळौ	३६	४	आह्लातु विषम	७८	३३
जस्मिन्नसमया	४२	४	इत्थं वदन्नथ	१०८	१२
जस्य प्रभोः पितृ	७५	४२	इत्युदीर्य मुज	६६	१६
जहङ्करोति नात्मानं	३५	१४	इयती मछ	२८	१४
जहिंसाभङ्ग	३६	२४	उचैर्वि	३०	३५
जहिंसात्र	३५	२४	उदस्तहस्तैः	५२	४०
जहो ! देहधृतां	४२	३५	उद्रच्छतस्तव	१११	१२
जहो ! ससात	२५	३४	उदामकामक्षितिपा	३०	२८
जाकल्पिता शोभित	५५	३१	उक्षिप्यापि क्षिपा	३८	२४
जाकारितस्तेन	५	३७	उन्मादं वीक्ष्य	३	३४
जाकाशामिव चन्द्रेण	६८	९	उपकण्ठमकुण्ठ	४८	१९
जाहृतिर्गुण	५९	१५	उपकृतां सता	४६	१४
जागल्प्य स्वसुरं	७७	४२	उपकृत्य कृती	४५	१४
जामानमात्मजे	७७	१०	उपरतसुरत	८०	३३
जात्मानमान्त	७४	४२	उपरुधन् विद्वानां	११	७
जाददानाः पयः	३१	१८	उभयोरनयो	५६	१९
जादावेव	३९	३५	ऋतुर्विगन्ता	१२	२६
जानीतवानसि	११२	१२	एकत्र स्फुट	८१	६
जानीतं न्यायतो	१९	१३	एकधारपतिर्यस्य	१७	७

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
एकावली वक्षसि	५६	३२	कुर्वाणः किरणा	१४	३४
एकेन केशिरिपुणा	१०६	११	कुर्वाणस्त्वयि	९०	२२
एकैव जगृहे	३२	८	कुलमुग्धबल	४४	५
एतयोर्विनय	५७	१५	कुलायमाकुलाः	११	३०
एगेहाय चको	३५	३१	कृतबिम्बमुदा	७९	१०
एषं न विधैक	३४	३९	कृतहारानुकारेण	४९	५
कथितारिविचारेण	१	२३	कृतासनं तन्मणि	८८	१०
कदाचिदपि	९	१३	केकिपत्रमय	६	२३
कदाऽऽन्दयति	४	३४	केचिद् कुलं	५०	२९
कन्दर्पिकेलि	७०	३२	केचिद् द्युम्नाय	२६	३४
कपरी कैरवा	५०	३१	केनाऽप्यच्येन	१२	१७
करं चिक्षेप	५	३४	कोरुद्वन्द्वं तदा	२	३४
करवालजलैः	४४	८	कोऽप्यपूर्वः	६	१७
कर्णं लग्नञ्चि	२८	२४	कौरवेधरसैन्यस्य	६४	५
कलयति कलशो	६६	३६	क्रीडावर्तमानं नगरा	१०३	११
कवीन्द्रशैलेन्द्र	५१	२९	कूर्मैर्महेरिवा	१०	१७
कवीन्द्रश्च मुनीन्द्रश्च	२२	४	क्व गतः सविता	१९	३०
कवीश्वराणां	५२	२९	क्वचिद् तटीः	४५	४०
कर्यासि काऽसि	९१	१०	क्षितिपान्तरविश्रह	५५	१९
काण्डानां सह	२७	२४	क्षितिवलय	६१	३६
कायः कर्मकरो	४८	३५	क्षिप्वा धारापति	३१	८
कालिदासः कवि	१२	३	क्ष्मातलदोष	५६	२५
काठेन करवालेन	१३	७	खग्निनः खग्निभिः	३२	२४
काठेन शौनिके	४७	३५	सिन्धाम्पनि श्रेणि	३१	२८
किं नेत्रमार्गेण	६८	३२	शम्भेदास्येव यस्या	३७	८
किन्तु विज्ञपयिता	७२	१६	गते भानौ	१६	३०
किमस्तु यत्पुपालस्य	३१	१४	गम्यः सोऽपि	२	३०
कुचौ मुषचौ	५४	३१	गवलकुवलय	६८	३६
कुटजविरटपिनः	६२	३६	गदितानि जैना	१६	३८
कुगपि श्रुति	५२	५	शुरुणा विक्रमे	२०	७
कूपितः करवालेन	२	२३	गृहमारभते	४४	१८
कुरङ्गनाभीद्वत्	५८	३२	गृह्णन्भूरिदण्डानां	६६	५
कुर्वन् निरिभुवि	२	३	गृहीता दुहिता	२८	८

	श्लो०	श्लो०		श्लो०	श्लो०
गृहे गृहे पातु	२	२६	गितं लक्ष्मि । त्वया	३१	३५
प्रह्वैः शुभैः सत्य	३२	२८	जीवनाय ननु	७१	१६
घनतयसमया	६४	३६	ज्ञानाख्यं यस्य	३८	१८
धनैः प्रसूनै	६६	४१	ओत्सनाजल	४६	३१
चकार तारिका	२९	३१	झट्टियागव्य	७	२३
चकार देवी	३८	२९	तं गोत्रमुख्यं	६१	४१
चकोरचक्र	१२	३४	तं राजवीण्या	१७	२७
चण्डयुतौ मण्डयति	४२	२८	तदरथ. प्रेक्षते	५३	३५
चन्दनाङ्गरु	१२	२३	तत्कर्णाजुनयो	२२	८
चन्दनैर्क्षचित्तै	३८	३१	तत्कालसुन्मीलित	३३	२८
चन्द्रशालासु बालानां	५१	५	तन्धुवः प्रसरत्	६७	९
चलन्मन्त्रिको	२१	२३	तत्र तौ ददशतुः	५३	१५
चाणस्वादिव	५	१३	तत्रादिनायत्य	२५	३८
चापलादिव बालेन	५७	९	तत्राऽऽहवमहा	२९	२४
चिकीर्षिता श्रीस	१	३७	तदकेव्य जवेन	४७	१८
चुडुकोद्भवभूपते	६७	२०	तदा तदालोकन	२१	२७
चूडान्प्रभा	४७	८	तदुपेहि पति	८८	२१
चौहृन्मयचन्द्र	६३	२५	तदगुमान् निपुणया	५२	१५
छत्रच्छाया	४३	३५	तदर्शनीनां हृदि	२६	२७
छन्द शाखे श्रुता	४०	१४	तदनुधण्डप्रमादो	८	१३
जगति अलिना	६१	१९	तनय. पितृवित्त	८७	२१
जगदे जगदेक	८१	२१	तन्मां स्वचक्र	१०५	११
जने येनासि	६९	९	तम तक्रमिवा	४३	२४
जदा-सीमन्तकान्तं	३	३	तमन्तिके यात्त	१९	२७
जनन्या जटरे	२१	१३	तमन्यमिव	५	१७
जनिताजुनतैजस्कं	१४	३	तमुजयन्ता	३८	३९
जनेन मेने	३५	८	तरणेरिव सिन्धु	८२	२१
ज्यन्ति कवयः	८	३	तरणे तारका	४१	३१
जनेन यान्या	२०	२७	तदुन्धे मल्ल	२७	१४
जातरीयक्षल	६२	५	तत्करैवां	३६	३५
जानेऽद्य विद्याधर	८७	१०	तस्मादभात्य	३७	१४
जामदग्न्य इवो	५४	९	तस्मान्निपत्त	१८	१३
जायते जल	८०	१६	तस्मिन्नथ कथाशेमे	६	७

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
धोलेव सुधवा	५३	५	नीळनीरद	५८	१५
न केवलं केवलि	२८	३८	नीळान्जमधु	४४	३१
न केवलं मही	४२	८	नुया च नव्या च	४०	२९
न केवलं शैल	६३	४१	नैवेद्यवृद्धै	३९	२९
न चौरास्तस्य	७०	९	न्यायं निवेद्यन्	३	१७
न च्छिद्रं क्षुद्र	६	१३	न्यासीकृताः	१०	३४
न तद् वनं	५६	४०	पतिरतितपति	५९	३६
न पुयचापादपरो	२४	२७	परा स्मरावेग	२३	२७
नमन्नमन्दप्रतिमः	७०	४१	परिजनैः प्रथमं	७४	३३
न माष. श्वाभ्यते	२६	४	परिपन्थिरू	४९	१९
न मानसे	७८	६	पश्यतः सचिवं	६१	३५
न मित्रमन्तरे	७	३०	पाणिपङ्कज	८	७
न मृगाङ्गे	३३	३१	पायेयवन्तः पथि	४	३७
नरत्नैर्मदुष्यन्तै	३	१३	पादलक्षैर्महीपालै	५१	९
न राष्ट्रदूष्टान्वय	९८	११	पित्राद्यैरुप	३५	३५
नरो न रोगापद	४०	३९	पित्रा विचित्र	११४	१२
नवं वयश्चित्त	६१	३३	पीतृपपायसै	३९	३१
न वाहनं यस्य	११	३७	पीतृनिन्दुपसर्व	११	२६
न संसारस्य	४०	३५	पुंश्चलीनां तप	३०	३१
न सर्वथा कथन	७६	१६	पुण्डरीकं दपयेकं	७२	९
नानर्चं भक्तिमान्	४०	१८	पुण्ड्रैक्ष्वः क्षीणरसाः	१४	२६
नास्ति तीर्थमिह	७०	१६	पुं गौरीव	११	१७
निगदितुं विधिना	७९	३३	पुरः प्रगतां	७	३७
निदधे गुण	१४	१३	पुरत सरतो	६०	१९
निदाने नात्र	३७	४	पुरतो यदि	५९	१९
निपुणोऽसि गुणेषु	७४	२०	पुरप्रजानां	५	२६
निरन्तरं सचरतां	१०२	११	पुरश्च वृद्धेऽपि	१८	३८
निशामु नोत्र	१४	१७	पुरस्त्वत्त्यास्य	८६	१०
निशामु यस्मिन्नव	५३	४०	पुरस्त्वय न्यायं	७७	१७
निश्चया कस्य	९	३०	पुरान्तराणि विज्ञिय	५९	५
निष्कान्तं कामः	६७	३२	पुरपाणामिमा	२५	१४
निस्वाननिष्चयना	८	२३	पुरो मन्दरवर्	७४	९
नीरन्नेपाण्य	२४	३०	पुष्टिपरिसरे	६०	३६

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
पूर्वे सर्वेऽपि	३८	१४	बहुभिः सह	८५	२१
पृथुप्रमृतिभिः	४१	८	बाहुभ्यामिव	७८	१०
प्रकल्पितायां क्षिति	४९	२९	निध्राजे भुजगा	१७	३४
प्रकाश्यते सदा	२७	४	द्विह्णस्य कवेः	१७	४
प्रचुरं तदराति	५१	१९	भया भुवन	१६	२३
प्रज्ञामाङ्गिरसा	४५	५	भवमवरमिमं	५८	३६
प्रतापः प्राप	८	३०	भवार्णवतरी	३४	१८
प्रतापिनः पल्लवित	१०	२६	भाति यत्र	६७	६
प्रतितटघटितो	७९	६	भान्ति देवाख्या	६१	५
प्रतिवृपतिभिर्भ्रौ	६८	२५	माळे तस्य	२१	१४
प्रत्यावृत्तिः कृत	१३	१७	मासः सेव्याः	६९	३६
प्रदोमानन्तरं	२२	३०	मिल्वा भल्लीभि	६०	२५
प्रबुद्धमात्रोऽपि	८४	१०	मीमतेनेन मीमो	६०	९
प्रभुप्रोत्साहनं	३७	२४	मुङ्क्ते स्म सर्वेष्वपि	१२	३७
प्रभूतभोग्यानि	१३	३७	भूपालेऽजयपालो	५२	९
प्रभूतमपि तत्	२३	२३	भूमिर्भुवस्थ	५१	१५
प्रभोः सपर्या	६७	४१	भूयान्मुदे तदेकं	४	३
प्रयोजकान्य	४९	३५	यजुटीषटना	३	२३
प्रविवेशे पुरे	७	१७	यमुकच्यमही	५३	१९
प्रसस्यथ मत्सर	५४	१९	मण्डलाप्रेग घः	१६	७
प्रसर्पतः प्रोषित	१६	२७	मत्पितुर्भुज	६५	१५
प्रसारितकरे	१३	३४	मत्सरस्वर	२०	३४
प्रसूतेऽथ नही	६६	२०	मवावृञ्जानि प्रमदा	७२	३३
प्रान्कृतां रेणुका	२०	१३	मदान्घास्ते	४४	३५
प्राणेभ्योऽपि प्रियं	५७	२५	मधुना लसदुत्कर्षी	९	३
प्रासादसौन्दर्य	३२	३९	मनागनालोकित	४२	३९
प्रासादास्तेन	२४	१७	मनीषिणां मानस	५४	२९
प्रियं विनामतां	५१	२४	मनोरमाकार	१८	२७
फलानि पुष्पाणि	५९	४१	मन्त्रिभिर्माण्डलैश्च	६१	९
यकषाटकचेष्टिते	८६	२१	मन्त्रिमण्डल	४	१३
यभूव देवेषु	३	२६	मन्त्री तदासाध	४३	२८
यभूव भूपति	१२	७	मन्त्री यद्यपि	९	२३
यलयारिधि	५०	१९	मन्त्रीशङ्कर	३३	२४

	यो०	पृ०		श्लो०	पृ०
मन्त्रीशगुणभाणिक्य	४७	५	यस्मिन् सन्निहिते	२८	३४
मन्त्रीशमालोक्य	२७	२७	यस्मिन् सरो	७२	६
मन्त्रीघरोडेयमनु	६४	२५	यस्मिन् होमानलो	५५	५
मन्ये मनसि	३४	१४	यस्य पौषघ	३७	१८
मर्त्तुचिनिचये	३६	३१	यस्य राजपये	६५	५
मलिनीभव	९	३४	यस्यान्तर्गिरिशा	७४	६
महंतां वर्त्तमानानां	२३	१७	यस्योच्चैः सरस	७५	६
महीमण्डलमार्तण्डे	४०	८	यात शीतहचिः	८२	३३
माणिमयमुक्ताफल	५९	३२	यात्राप्रसङ्गेन	१४	३८
मानार्गलां काऽपि	६५	३२	यामिग्यामिन्दु	५१	३१
मानी नामन्यत	७	१३	या मूलराजान्वय	१०१	११
मालवत्वामिनः	३०	८	यावन्ति विन्वानि	२०	३८
मालिन्ये नार्जया	३१	३१	युक्तं कादम्बरीं	१५	३
मित्रेऽस्तमागते	६	३०	युष्मात्तजामसच्छा	११०	१२
मुक्ता निःश्रीक	१४	२०	येन केन च	६४	१५
मुख्यं श्रोमल्लदेवालयः	२४	१४	येन पौषघ	३६	१८
मुण्डेव खण्डित	१०४	११	येन विश्वैकधारिण	३६	८
मुनेर्विजयसेनस्य	२३	४	ये मन्त्रिणो येऽत्र च	९५	११
मृदुयांशो मति	१०	१३	येषां निमेषार्द्ध	४	२६
मैत्रेयपानच्युत	७७	३३	योऽयं चांघित	५०	३५
मोदमानोऽन्व	२७	३४	यो वर्त्ते संप्रति	९४	११
यः परामृत	११	१३	यौवनेऽपि मदना	६१	१५
यच्छिन्नम्लेच्छ	५८	९	रचितोपक्रमे	२५	३०
यत्र नारीमन	६३	५	रजोनिः सनरो	३९	८
यत्र यत्र	६८	६	रत्नप्रदीपेषु	५०	४०
यत्र सौधांशु	५६	५	स्थानथानन्द	३	३७
यदि सम्प्रतिपत्ति	७६	२१	स्थैस्तुरङ्गैः	१०	३७
यदुत्तमाङ्गसिन्धत	३३	३९	रमययरिरात्र	४२	३१
यद्यन्यनुपमा	४९	१४	रमयन्ति न कं	३२	४
यन्यूनं यत्र	२५	१८	रमयन्ति मन	४१	३५
यमुनेव मधुपन्नं	६०	५	रम्भासम्भाविदै	२७	१८
यस्मिन् विदग्धा	५५	४०	रत्नालङ्कारगे	१	१३
यस्मिन् सत्रा	५७	४०	रागाद् शूपाळ	४८	९

	श्लो०	श्लो०	श्लो०	श्लो०
रान्त्य ! धन्यतम	१०९	१२	विद्वानपूर्वः सित	६३
रिपुसैन्यनिवेश	५२	१९	विद्युरेऽपि न	७२
रीगान् धुरीगान्	६२	४१	विभृता विध	४८
रथा रिमतसुखः	४	२३	विधृतेऽपि सुते	७०
रूपेणाप्रतिमाः	७०	६	विधौ विध्यति	५६
रेमे न रम्येऽपि	३४	२८	विना कर्णेन	२१
रोहिणीरमणं	२६	३०	विना जगदेश	९९
रत्नः पादेयु	४९	३१	विपरीतमतिच	८४
रङ्गा शङ्खावती	५७	५	विभाव्य तम	४०
रज्जावती त प्रलि	२५	२७	विभिन्नयोरद्धि	३४
रगन्ते लोकरत	४१	१८	विन्ध्यम कुल	५९
रघोषरस्य सेनान्य	३	७	वियति प्रेक्षमाणामि	४६
रघवशर्मिहनामानं	५०	१४	वियोगान्यथया	५
रौद्रावनेऽस्मिन्	४७	२९	विरक्तश्चेद्	१३
रौद्रकयौ	९	७	विरच्यमाने सचि	२७
रौकेऽस्मिन्नव	२२	१७	विरोधिवनिता	७
रौहित्यं विद्रुमा	३	३०	विलासवेस्ताङ्गण	६६
रुद्रो विद्रिय	३१	२४	विद्रोक्ष्य वस्तुपालस्य	४६
रुचनं घनपालस्य	१६	३	रिन्नेल्लंछनाः	१५
रुधूनां वक्त्र	५२	३१	विद्वृतिर्विष	११
रुनास्ताद् बल	१२	३०	विपमेऽपि कथं	७३
रुपास्ते धवयो	७	३	विषयामिष	५४
रुश्लेऽपि बुद्धस्य	६२	२०	वित्तम्य पूजामध	८९
रुस्तुचं वस्तुपालस्य	२९	१४	विष्णुरचौन्देतीनां	६४
रुस्तुपालशोषीती	२९	४	विहाय शरधि	३०
वायवेवोन्नति	४७	१४	विहाय युर्वना	५०
वाहिपोस्तत्र	२५	२४	वीक्षिता यन्ति	६९
वाकारवर्जितं	६२	२५	वीरं सद्दामम	४१
वाकासवर्द्धिर्ननि	४७	४०	वीरं राम	८१
वाक्चिन्ता रुचि	६५	९	वीर्याणां पाणि	३४
वाक्चायास्तिकि	६	३४	वृद्धि न्यमोम	३२
वाक्चिन्ताजग	६३	३६	वृद्धिघानां मुवद्गानां	२५
वाक्चिन्ताजग	६३	३६	वैरिणामपि वीर्य	५३
वाक्चिन्ताजग	६३	३६	व्यावर्तमाननय	७६

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
व्याहृत्य वृत्त्यमिति	१०७	१२	संछिद्यमाष्टापद	२६	३८
व्योमाङ्गण	३२	३१	स एव घमौशु	४८	२९
शङ्खपत्तिर्नयन्तथ	५२	२४	स कर्दमैस्तस्य	२३	३८
शङ्खेन खड्गपातै	४८	२४	सफलमपि वपु	७६	३३
शस्त्रैः शस्त्रेषु	४५	२४	सखा गङ्गस्य	४४	२४
शान्तव्याप्त	३७	३१	सङ्ग्रामसिंहं स	६५	२५
शिरीषपुष्प	६	२६	सङ्गृहीतानि हारीश	२८	१८
शिशुनाऽपि शुना	२४	८	सचिववचन	७८	१६
शुभत्वमाव	४४	१४	स चौलुक्यवृषा	११	२३
शुद्धमे दिक्षु	४	३०	सततं सचिवधेगि	२२	१४
शूराणां सम्मुखा	४५	८	सत्यं ससृति	५५	३५
शृङ्गैरदभैर्दिव	४४	४०	सदा हृदि बहेम	१८	४
शैल्लोपकण्ठे	३६	३९	स ननस्य	११	३
भगाने वातु	३८	८	सन्दैर्हैरिन्दु	४०	३१
धिये सन्तु सतामेते	१	३	सन्धाय बन्धु	३७	२५
श्रीक्ष्णदमयुःसुकुया	२८	२७	सज्जसैनिक	१०	२३
श्रीनागिन्दु	२९	३९	सजाह सङ्गरा	१३	२३
श्रीनेमिनाथा	६८	४१	स पञ्चैर्निर्विषम	२१	३८
श्रीनेमिनाथेन	६०	४१	सपद्माशुतगत्रूपां	४	७
श्रीनेमिनामान	६४	४१	स प्रतस्थे	५	२३
श्रीप्रह्लादनदेवोऽमूर्	२०	४	सप्रसादवदनस्य	६८	१६
श्रीभोज-सुब्रह्मदु खार्णा	२१	४	सगं सगमैरपि	६	३७
श्रीवस्तुपालेन	१	२६	समन्ततोऽपि काष्ठाना	१३	३०
श्रीवीरधवल	७६	१०	समन्ततोऽपि सामन्त	७३	९
श्रीरीश्वर	१५	२३	सगैः करतेरमुष्य	८३	२१
श्रीरीश्वर्य धो	१	१७	समासनेऽपि	१८	२३
शुतसिद्धनसैन्य	४३	१८	समीपमाङ्गमुपि	२९	२७
शुत्वा मुनन	५०	२४	समुद्धृतैर्जार्ण	१९	३८
शुत्वा वच सचिव	८९	२२	समुपैति यथा	४६	१८
श्याम्भता कुल	६०	१५	समेय सोमेश्वर	८५	१०
श्वेताशुतुष्य	९०	१०	सम्भूतकृष्य	१०	७
शङ्खिरेव गुणै	३३	१४	सरसिजसुरभि	६५	३६
संवीक्ष्य वीररस	६६	२५	सरस्वती सदा	६	३
संजोषिनादोषनदे	१३	२६	सरसि गजजङ्घिनी	४८	४०

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
सरांसि राजहंसा	३०	१८	स्थितं पुरुषयो	३०	१४
सर्वत्र न्यक्त	४७	३१	स्थितं सङ्घमुखे	१९	२३
सर्वोश्च्युसितं	१५	१७	स्थितः क्षण क्षीर	८	३७
सर्वथाऽनुप	१४	७	स्थितस्य यस्थोप	४९	४०
स वीरो मन्त्रि	४९	२४	स्थितेऽत्र सम्मुखे	२०	२३
सशङ्खचक्रः	७७	६	स्थितेन तेन	२४	२३
स श्वेतर्षितै	३०	३९	स्थिनाऽथ प्रस्थिता	१७	३०
स सन्ध्यावासं	१८	३०	स्थित्वा विषय	५४	२५
सहजा इति	६५	२०	स्नात्रं स पात्र	६५	४१
सांथानिकजनो	१६	१७	स्नात्वा सरसि	७१	६
सा गता शुभमयी	७३	१६	स्निग्धै सम्भाषणै	२०	१७
साधूनां लुब्धता	३१	४	सृष्टाऽऽसृष्ट	१७	१७
सान्द्रे चन्द्रातपे	४३	३१	स्रुष्टं वेष्टयता	३५	१८
सागन्तमन्तक	४७	२४	स्रुष्टः सृष्टि	२१	३०
सास्रवतमयं वन्दे	५	३	स्वं मेने येन	१५	१३
सावित्रं विभ्रता	१६	१३	स्वखड्गसङ्घितै	५८	२५
सिताम्बरं मन्त्रि	४६	४०	स्वच्छं वारि	७१	३६
सुकृतैः ऋते	४३	८	स्वयं शुद्धेषु	२६	१४
सुरां विषय	४५	३५	स्वयमुत्पादितां	३४	३५
सुखेन सार्धः	४१	३९	स्वरक्षितस्याथ	१५	२७
सुचिरमिति	५७	३५	स्ववाक्प्रापेन	२५	४
सुधेव वसुधा	३४	८	स्वस्थानुभस्यापि	३५	३९
सुपणकेतना	१९	७	स्वामाविकेन शौचेन	२३	१४
सुभटासृक्	३९	२४	स्वामिना सप्रसादेन	१९	१७
सुमटेन पदव्यासः	२४	४	स्वामिशत्रु	५५	२५
सुमर्तैरपै	६८	२०	इंसानां नव	७०	३६
सुस्तनत	२३	३०	हृदे हृदे पटो	८	१७
सोमः सद्रुद्रत	१२	१३	हरप्रासाद	७६	६
सोऽस्मिन् कधन	४३	५	हरितं परिहय	६४	२०
सौरसिंहो नास्ति	९७	११	दिनासहोऽथ	४६	२९
स्नानिनमुपगतं	६७	३६	द्वि प्रनिष्ट	४६	८
स्वभतार्थे स्थित	४	१७	द्वि प्रिययिषु	१६	३४
स्तुनः सुमनसां	१९	४	द्वे वीर ! वैगिञ्चिनी	९२	१०
स्तुनस्तमेव वान्नीर्षि	१०	३	द्वय याद पणिष्ठा	३०	४

अरिसिंहकविविचित-

सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः ।

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
अंसौ ते सचिवा	२३	१३१	अथापरान्यानि	२६	११२
अक्रिध्वनः कधन	४०	११४	अथाचलन् वायट	११	१११
अकृगैः कृशैश्च	८	१२२	अथादग्निं	१	१०४
अगायपुण्यैर्भव	३१	११३	अथान्णमणि	३३	१०५
अप्रेऽपि तत्र	६	१३३	अथानुचेलुर्नर	१०	१११
अहमण्डन	३९	१२०	अथावनीजोऽननि	१७	१०९
अजनि गिरिनितम्बे	३३	११७	अथावज्ज् विज्ज	४०	११३
अजस्रमस्रैर्वन	९	१००	अथासितीज्रत्नत	६	१११
अबलैः शशिमुखी	४	११८	अथास्य सङ्घस्य	१७	११२
अटनटन्यां यद्	११	१००	अथैष तीर्थङ्कर	४७	११४
अतिदूरतः	४७	१२८	अथोरुषामाऽजय	४४	१०३
अतुहिनमहसेव	९	११५	अदायि दीनाय	४८	११४
अत्युदारतर	३७	१२०	अदोषधीमन्त्रि	३	१११
अत्र व्यघापय	१६	१३४	अदसुतप्रमद	१०	११८
अत्रापि तेन	१२	१३४	अनांसि धर्मीशक्ति	४२	११३
अत्रैव सायुकृत	९	१३४	अन्तरायदलनाय	१३	११८
अथ कम्बुचिह्न	१०	१२२	अन्तर्वसदन	१०	९६
अथ कल्पिताखिल	२८	१२३	अपरः पयोद	३३	१२३
अथ काननान्तर	४५	१२८	अपरः पियन्त्रपि	३५	१२३
अथ कृततनुकृत्यः	५१	११४	अपरता परताप	२१	१२६
अथ केऽपि भक्ति	३१	१२३	अपरस्य वंश	३४	१२३
अथ निरीश	१	१२५	अपि द्विपः प्राग	३२	१०२
अथ तं विलोक	३१	१३२	अपि वज्रभाजि	७	१२१
अथ तामसं	४१	१२४	अभापिच्छ समा	३७	१०५
अथ पृथुक	१३	१३०	अभिसंचनेन	५१	१२८
अथ पृथ्वीपति	१२	१०४	अभूर् तदा	१९	११२
अथ विरिमितद्ग	३२	१०५	अमूदथ न्यायपरः	१५	१०१
अथ सबल	११	१२२	अमुत्र शत्रुञ्जय	३७	११३

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
अमुच्य सद्यस्य	२७	११२	इति गद्गदाशु	२७	१२३
अलकलोल	२२	१२६	इति लवमीलतो	४४	१०६
अलभत चत !	२	११७	इति वर्णयन्त्रय	१७	१२२
अवतमसततीनां	३१	११७	इति वर्ण्यमान	३०	१३२
अवलोक्य कोऽपि	५०	१२८	इति श्रुत्वा नृप	२९	१०५
अवलोक्य धूप	१५	१२२	इति सम्भदेन	३७	१२३
अवाहनानामपि	२	१११	इत्थं गौरकगौर	४१	१३२
अशिथिलपदपातं	४	११५	इत्थं प्रेषाणक	४३	१२०
असन्नं सन्नदे	२७	१३१	इत्थमद्भुत	१३	१०८
असौ मृशं सन्तत	२६	१३१	इत्यवेद्य मुदितं	८	१०७
अस्थिराः करमिका	३५	१०९	इत्युक्त्वा मुदिते	५८	१०६
अस्मिन् कृतोऽस्मि	३८	१०५	इत्युदीर्य	२७	१०९
अस्यास्तोत्रं कोऽपि	५०	१०६	इदमभूद्	३	१२५
अस्याऽस्ति च	२४	१०५	इमकुलमिममल्लो	१७	११६
अहनि दहनकीला	१२	११५	इमौ ग्रन्थापि	५७	१०६
अहमिहारुण	१५	१२५	इयं सर्वाङ्गण	१०	१३०
आकर्ष्य तूर्ण	७	९६	इष्टैः स्तूतैरप्यपरैः	३१	१०२
आकलय्य सुत	३२	१०९	इह सोमनाथ	३	१२१
आजन्म सदम	४९	१०३	इहाथ पाथल्लृण	३९	११३
आजन्मापि कृशा	२	१२८	ईदम् कश्चित्	२	११०
आत्मगोत्रगुरवः	१५	१०८	ईदम्केलिरस	५३	१२८
आदेदापन्ननिव	३०	९८	ईदम्मन्त्रिकीरिट	३६	१३५
आघात् पदे	३७	१३२	उच्चरणचार	३	१२४
आन्तरेण नयनेन	५	११८	उचैःपदं निज	८	१३४
आम्बेलेयन्ति	२१	१३१	उङ्गागमिष	१४	११५
आचमौ धन	२१	११५	उत्तानण्ड	४	१३३
आरात्रिकं मूल	४२	१२०	उत्तुक्रैश्च जनै	१७	११९
आरोहवैभव	१०	१३४	उदितं प्रियेण	४२	१२७
आलोक्य वीदित	२१	१३४	उदामदानप्रसरण्य	२६	१०१
आसाद्य वीरधवला	१	१३३	उद्भान्नै सहसा	२	९९
आर्मात् कुमारदेवानि	५३	१०६	उर्ध्वस्थितागनि	१४	१००
आसीदथ प्रबल	३७	९९	ऋद्विष्टुर्विचिगदेषु	४	१०७
आत्ते यावदुल्लर्ब	१	१२८	एतदानगविलासि	६	१०७
आस्थानमण्डप	६२	१०६			

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
एतं प्रवन्धमय	४	१०४	नचचन भर्तारि	२३	१२६
एष स्फुरद्गुरु	२७	१३५	नवचित्र भङ्गोऽप्य	१३	१००
धौतमुक्यत काचन	३४	१३२	सीरीदमोदरो	४६	१०६
औ मुक्यगाव	३३	१३२	स्मारण्डमाखण्डल	८	१००
कटकरथरानन	१६	१२२	श्मागतेन लघुकं	८	११८
कपोलयोरिवा	९	१०४	खट्वाङ्गसङ्गत	४	९६
रुमलकान्तिहरी	१३	१२५	खरुचेर्विजयाय	२६	१२६
रुमलकोमा	१२	१२५	शतमदनमदानां	३	११५
करकिशालय	२	११५	गतोऽप्रतोऽस्मिन्	३२	११३
कराप्ररोपगा	४	१०४	गन्धते तपन	२६	१०९
कर्पूरागुरुधूप	७	१२९	गिरिरेप सिन्धु	१३	१२२
कर्मवैरिनिजयाय	११	११८	गिरिगिरिम जितेशं	२१	११६
कल्पान्तेपु यशोमेरे	१	१०६	गिरौ गति पश्यत	४३	११३
कल्पान्तोद्विभ्रान्त	२	१२१	गृहाग विग्रहो	३९	१०५
करिर्न को	४	११०	चक्रोऽर्धुदाख्य	३४	१३५
कस्यचिद्धरिणि	३	१०७	चञ्चलाञ्जनकूट	२	१२४
काचित् तदा	३९	१३२	चटुला नटी	३६	१२३
काचिद् भुजाभ्या	४०	१३२	चतुर्दिगापूरण	१५	१११
काव्यमेतदरिसिंह	४	१२१	चत्वार्ययं चतुर	२०	१३४
का शक्तिर्घुसदा	२२	१३१	चलाचलाया मुषि	२५	११२
किं सूते कर एव	४	१२९	चन्द्रितसमल	२२	११६
किञ्च प्रपद्यत	६१	१०६	चिरमुपचितहर्ष	१९	११६
किञ्च स्व र्शमिनि	२८	१०५	चुद्धक्यतुल्य	१५	१०४
किञ्च अगति	२८	१३१	चेद् योऽपताञ्जलि	२०	९७
कीर्तिरुल्लेखित	४९	१०६	जटालमौलिर्भृंग	१२	१००
कुङ्कुमान्धुमि	३८	१२०	जनये जिन !	१९	१२२
कुसुमासुपर्ण	३९	१२४	जय जय नयशालि	१४	१३०
कुसुमार्पणपु	४०	१२७	अलनिपिञ्जल	३०	११६
कुसुमावचाय	२६	१२७	अन्पनोर्गमिनि	२१	१०८
कुनहृत्य एव	१८	१२२	अपिपतानि बहुना	४०	११०
कु वैरमेव	३८	१३२	जाटयं जनपु	१२	९७
कोपे पावकनन	२०	१३१	जिन्वा यैर्मान्त्र्य	२३	१०१
क्रमकमल्लुगे	२९	१३२	जिनमहमहिमानं	१	११५
क्रमकमल्लुगि	२८	११२			

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
जैन किलैनं	३	९९	त्रैलोक्यादुत्तमं	५२	१०६
ततः कितिपते	३४	१०५	त्वदमुणान् गदितु	२६	११९
तनश्चतुर्विंशति	८	१११	स्वप्नहोभिरहि	१२	१०८
तत्पदाम्बुरुह	२२	१०८	त्वं मनोभव	३१	१२०
तत्पदेऽतिविदित	१९	१०८	त्वां निरर्थकमिमा	२७	११९
तत्र सादृशि	२३	११९	दक्षः शखे च	४३	१०५
तत्र प्रपेयमपि	२८	१३५	ददता प्रमूत	४१	१२७
तत्रावनीविमु	२७	९८	दधुरनङ्ग	८	१२५
तथाऽस्य तेजोभि	२	१००	दन्तदीप्तिपटल	३०	१०९
तदङ्गजो दिग्गज	४६	१०३	दयितमिति	३२	११७
तदनु प्रमोद	२९	१२३	दयितेषु तोय	४८	१२८
तदनु वदन	१	१२९	द्वयमानमस	१९	११९
तदपीयत श्रुति	२५	१२३	दानच्छटासुरभि	४०	९९
तदानीं दीनीधे	५	१२९	दानशीलतपसां	३४	१०९
तदाऽन्नपाकाय	४६	११४	दासः कैलासभूमी	४८	१०६
तदनुः कीर्तिभरै	५१	१०६	दिम्पुरन्ध्र	४२	११०
तदनुध्वजप्रसादाख्यो	४७	१०६	दिनमयं नमयन्	३३	१२७
तस्यहामति	२	१०७	दीर्घादुभयतादिनि	१	९९
तस्यथथाहर्गमनं	३९	१०२	दुःपर्यायिम	२९	१०९
नमीदिने व्याययतो	१६	१०१	दुर्वारवारण	३१	९८
तयोत्रयोऽभवन्	५४	१०६	दुःक्रमांतिपरिः	६	१२९
तरल्लतारलता	१६	१२६	दुष्टामायनिधि	१९	१०५
तरुणीसमागम	४६	१२८	देयाः स्वामिन्	४४	१२४
तस्माद् भुजगेन्द्र	१०	१००	देवमकिभर	९	११८
साङ्गमेरुं	३६	१३२	धुनगिः क्षपा	९	१२२
सात ! ह्यात्तगिरः	१	१३३	धुनगिमगिगयी	११	११५
सायकानयशसैव	११	१०८	द्वुत्प्ररश्ते	५२	१२८
सुदिनमन्दतरां	२७	१२६	द्वुत्समेतदिनाधि	१४	१२५
सुदिनमाहि	२९	१२६	द्वारमध्यम	२८	१०९
सैन प्रपादय	३२	१३५	द्वित्रेधरभीष्टनि	२३	११२
सैन व्ययायि	११	१३४	घात्र्या धर्षी न	२	१०४
सैने गृन्तानसमतां	५	९६	धर्मिणाम्ने	५६	१०६
सैन्धवा विनपुर	४१	१२०	धर्मीभवत्पदसि	३४	९८

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
शूलिभ्रमपद	२५	११९	पवित्रमेतत्	१८	११२
शृता निर या	२९	१०२	पाणी सपुट्य	४१	१०५
न क्षमोऽयमहिता	२८	११९	पापपङ्कगमनाय	२०	११९
न तथा व्यराज	१४	१२२	पाय पायमहर्निश	१	११४
नगर्त्त कश्चित्	३३	११३	पावयन्ति परित्कृतम्	३९	१०९
नमसि दर्पण	१७	१२६	पिबन् पय स्व	९	१११
न भूयत केऽपि	६	१००	पुरा प्राग्वाटवशाप्र	४५	१०६
न मे स्वामिन्	४२	१०५	पुरुषोत्तमो हृदि	६	१२१
न ययपि प्रौढ	५	१११	पुलककम्पित	३१	१२७
नयनाप्रवर्मेनि	२३	१२३	पूजासु पाणिस्थित	२१	१०१
नयेन सद्गत्य	४४	११३	प्रकटितावस	२	१२५
नलिनादिपुष्प	२६	१२३	प्रग्वल्लमणि	६	१०४
नवपल्लवा निज	३९	१२७	प्रतापतापिता	२२	१०५
नवदृक्षमूर्त्ति	३८	१२७	प्रतिसर्ग प्रबन्धे	५ ९९, १०४,	
न स्थिरा क्वचन	३८	१०९		१०७, ११०, ११४,	
नागेन्द्रगच्छ	४४	११०		११७, १२१, १२४,	
नाम्नुवन्ति भव	३०	११९		१२८, १३३, १३६	
नाम नाम सुधया	६	११८	प्रत्यर्थिपार्थिव	३२	९८
नित्यं त्वद्दना	१	११७	प्रथम प्रथितस्तेषा	५५	१०६
नित्यचैत्यतुक्ता	७	१०७	प्रथमसमुदितेन्दु	१०	११५
निर्गम्य कोचागुहरा	३	९६	प्रवृत्तवृत्ता	४५	११४
निर्मितस्तुति	३४	१२०	प्रसादसादर	३०	१०५
निर्वन् पयोमय	३६	९८	प्राग्नियोजित	७	११८
निशि नियत	२०	११६	प्रातस्तूर्यस्वने	३१	१०५
पद्यासराह	२	१३३	प्राप्य रत्नमिव	३२	१२०
पक्षितवति पतङ्गे	५	११५	प्रार्थितौ प्रार्थनीये	४०	१०५
पक्षितवति पयोधे	२६	११६	वभार भुमार	२४	१०१
पथिककानन	३२	१२७	बन्धिरपि कलि	१५	१३०
पदमकारि मुग्धे	२८	१२६	बहूपतत्पादयुग	३४	११३
पदमयत्त	२४	१२६	बाधस्य सुर	१४	१०८
पदेऽथ तस्याजनि	१	९९	बुद्धिमेव तव	९	१०७
परित स्फुरित	१०	१०४	बुद्धिर्हेतेव तव	२४	१३१
पर्वक्षणे न खलु	१४	९७	भार्गवपूजन	५	१३३

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
भवकान्मान्तर	२१	१२२	य सुदर्शनघां	१८	१०८
भवभ्रमिश्रान्तरः	३५	११३	यः सध्वरन् वर्वर	३३	१०२
भवामिभूतेन	१२	१११	यधमुख्य । स भवान	१५	११८
भापितं भुवन	२९	११९	यच्छतकुम्भ	२४	१३५
भामण्डलप्रति	२३	१३५	यत्कनेर्लवण	४	१३३
भारं सुवो भुजभरेण	२९	९८	यत्कारितं सिद्धसरः	३५	१०२
भावनासल्लिल	१४	११८	यत्कीर्तिमेव	३८	९९
भासि दौष्ट्यतरु	३	१२१	यत्स्वङ्गखण्डित	२	९६
भास्वत्रिःस्वान	१२	१३०	यत्र क्षिति रक्षति	२५	१०१
भुनानि भूमिधर	२२	९७	यत्र प्रतिक्षण	१७	९७
भुजगजगति भूर्ति	२८	११६	यत्रोच्चसौधमुवि	१८	९७
भुवनाधिपाति	२०	१२२	यदयमेत	१९	१२६
भुवनैकनाथ	२४	१२३	यदीयकारागृह	३४	१०२
भूरिधातुमय	२	११८	यदानमश्रावि	५०	१०३
भूरिपुष्परचिता	४०	१२०	यदानिदानमुदितेन	२६	९८
भृगोः सुतेनेव	४१	१०३	यद्भयप्रभव	१६	१०४
भृशमुरसि कलङ्क	१५	११५	यद्यम्परे सुर	२५	१३५
भृशमुपसि तुवार	२७	११६	यद्भक्तवेश्मपरि	२३	९७
भ्रुवमारोपितां	२५	१०५	यसुनौयसङ्गम	४०	१२४
भृगुजुलः कनक	३	११८	यस्मिन् जनाय	२४	९७
भदभिवर्षित	२०	१२६	यस्मिन्पुर्णुपरि	१९	९७
भन्दाकिनी धियति	२१	९७	यस्मिन् विलास	१३	९७
भयाऽसौ विक्रम	१८	१०४	यस्मिन् सदैव	११	९७
भलयजद्रुम	११	१२५	यस्मिन् सदोषैः	४७	१०३
भसृणुसृणु	२९	११६	यस्य द्विषां कण्टक	३०	१०२
भलयजमयमम्भ	२	१२९	यस्यासिधेनुमल्लके	२८	९८
महान्त्यं सद्भजनो	२१	११२	या कीर्तिरस्य	१३	१३४
मात्यमाह्वयवर ।	२	११४	यामवाय न	३३	१२०
भासुर्यसुर्य	२९	१३५	सुम्भेन यस्यासिल्ला	२८	१०२
भूर्तित्रयं हरि	१९	१३४	सुद्धमार्गेषु	२१	१०५
भूर्तीर्विधाप्य	१८	१३४	सुधि न्यमासि	१७	१०४
भूर्तीस्तीर्थपते	४२	१३२	सुधि स्वय यः	४३	१०३
यं विलोक्यातुलं	२६	१०५	सुवां नोन्द्र	५९	१०६

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
युवाभ्यामेव	६०	१०६	विश्वं जगद् वेन	३७	१०२
धैरजीयत	१६	१०८	विश्वं न स्यादनी	२	१३६
योग्यपात्रवगपात्र	१०	१०८	विश्वप्रभुः सुतुक	३५	९८
रचिताङ्गौच	३०	१२३	विश्वेऽस्मिन्नतिःसिंह	४	१३६
रजस्तदा विस्तृत	२२	११२	विपमलिमिप	७	११५
राजा कुमार	१३	१०४	विसर्पता सख	२४	११२
राजा दृम्यां सुधा	३६	१०५	विहरच्चिकुर	११	१०४
रिपुमूर्तिशिरो	२७	१०५	वीक्ष्य यत्सिंह	१२	११८
रद्वेऽपि यत्र	१६	९७	वीतरागमत	३३	१०९
रत्नमीर्मयाऽवग	१७	१३४	वृथैव वैषानन	४	१११
लावण्यासिंह	४	१२४	वैकशमान्य	३५	१३२
लावण्यामृत	७	१०४	व्यथयति प्रथिता	१०	१२५
लीलावद्वसद्विज	३८	१०२	शकः क्व वक्तु	३५	१३५
लोचनैस्तनुमता	२२	११९	शनुश्रयादि	१५	१३४
वकीर्णते धनुषि	८	९६	शरीरमासैव	१३	१११
ददनाप्रमाग	३२	१२३	शखविस्तृतिपरः	२	१०७
वनवज्रयो गुरु	१२	१२२	शान्तिस्वरिष्य	१७	१०८
वयमेव शत्रु	३७	१२७	शुद्धमहपति	३६	१२०
वस्तुपालसचिवेऽ	१	१०७	शैलमौलियमनाय	१	११८
वस्तुपालसुष्टता	४	१२९	शैलेऽस्मिन् पुरह्व	३५	१२७
विकटं नयामि	२२	१२२	शैशवेऽपि मद्मत्त	२०	१०८
विश्रिय य संगति	५	१००	शौर्दैर्व्रधरस्य	१	१२०
वितन्वत फास	१६	११२	श्रावकत्वमगले	३६	१०९
वितन्वाते विधा	१	११०	श्रावकाः प्रतिपदं	३५	१२०
विग्रस्यतो मालव	१८	१०१	श्रीकपर्दिनमिति	१६	११९
विपुमौलिमौलि	२	१२१	श्रीकण्ठेचोऽथ	२०	१०१
विशेष लोभेन	२०	११२	श्रीधेनराजवृषणि	३३	९८
विद्यदमीमिह	१८	१२६	श्रीसादलितपुर	२६	१३५
नियदहनि वितेने	१८	११६	श्रीमीमदेवोऽस्ति	४८	१०३
विरचय्य काऽपि	३२	१३२	श्रीभूमटो रिपुभटो	३९	९९
विरहनिमित्तमीरः	१६	११६	श्रीनत् पुरं	९	९६
विलोकयन् कौऽपि	३६	११३	श्रीमन्त्रिमुख्य	१८	१३१
विश्राम्यन्तु	१	१३६	श्रीमन्नीशरवस्तु	३	११७

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
श्रीमानखण्डपद	७	१३३	सतां पतिः सहपति	७	१११
श्रीलता शुचितरेषु	३७	१०९	स तीर्भयाप्रासु	१	१११
श्रीवस्तुपालप्रथित	४	११४	सत्यव्रमेण कृतकानि	२५	९८
श्रीवस्तुपाल ! भव	२	१३३	सदर्पमर्ष	१४	१०४
श्रीवस्तुपाल ! रण	३	१२९	सदा प्रसादोऽमृत	४	९९
श्रीवस्तुपालसचिव	२	१०४	सद्यो जिनक्रम	३५	११७
श्रीवस्तुपालसचिवे	४	११७	मन्ति सम्प्रति	२४	१०८
श्रीवस्तुपालस्य	४	१०७	सन्नं यत्न तदापि	३	१२९
श्रीवस्तुपालाभिष	३	१०४	सपादलक्षप्रमुणा	४५	१०३
श्रीविश्रामा	१६	१३०	समदमदन	१३	११५
श्रीवीरभवलतेज	११	१३०	सममसमनयूखै	३४	११७
श्रीवेत्त विस्मय	१	९६	समीपसङ्केत	३०	११२
श्रीवैधनाथ	२३	१३५	समुच्छिताभिः खल	३	११४
श्रीसुमन्तं मयु	२२	१३४	समुदिते मुदिते	२५	१२६
श्रीसोमनाथोऽपि	३६	१०२	समुद्भवद्भाव	३८	११३
श्रीसोमान्वयकुट्टिमो	२५	१३१	सम्पालयन्तो	२२	१०१
श्रीसोमान्वयवादिं	१९	१३१	सम्पूर्णसक्तित्रय	४	१००
श्रीस्तम्भतीर्थ	३	१३३	सर्वतोमुखतपो	२५	१०९
श्रीस्तम्भनाथ	३०	१३५	सर्वत्र सञ्चारिषु	१९	१०१
संप्रामर्सिहकुव्यगो	३	१०७	सर्वथाज्यस्रति	५	१०७
संयमप्रभृतिभि	२३	१०८	सर्वेश्वरमनुं	२३	१०५
मकलस्वकीय	४४	१२७	सलिलेन विभ	५	१२१
राक्षोचिन्ताम्बुज	१५	९७	उनाङ्घ्रियुर्वीगपि	२७	१०२
सङ्गः सहत	१७	१३०	स स्तम्भनानिध	३१	१३५
सङ्गमर्तुरधि	४३	११०	सहस्रशीर्षेरा	१४	१११
सचिवः समं	१	१२१	सा काऽपि कोमल	१४	१३४
सचिवस्य दास	४३	१२४	सितांशुना कीर्ति	४२	१०३
सबक्रनन्दक	३	११०	सिद्धलोक इव	४१	११०
सजलजलद	२३	११६	सिन्धुराजविजयो	३	१३३
सञ्चरन् भुवि	१८	११९	मुवस्तस्याऽति	२०	१०५
सततकुसुमिता	३४	१२७	सुगमतां त्वमस्ति	६	१२५
सततविवत	५१	१०३	सुवर्गासंबोजित	४१	११३
सततान्तराल	४	१२१	सुव्यकभक्ति	३	१००

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
सृजता सर्ज	४३	१२७	स्वयं स कस्मैचन	४९	११४
सृजन् जन पूजन	२९	११२	स्वर्गं जिगीषु	७	१००
सेवकेषु दृष्टदोषे	५	१०४	स्वर्पेनुशास्त्रिणाय ।	१	१०३
सोऽभ्युदश्य	३१	१०९	स्वस्ति श्रीदिवलोका	१	१२४
स्वयंप्रकम्पित	६	९६	स्वस्थानप्रसृत	८	१३०
स्वतर्गुण कुतुकेन	९	१२५	स्वहृद् प्रमोद	३८	१२४
स्फुट्यदितकलङ्को	२४	११६	स्वीयतादत्र	२४	११९
स्फुटमचकर्म	४२	१२४	हठादरन्त श्रिय	४०	१०२
स्फुरन्त स्वप्रता	३५	१०५	हसाल्मारलाम	६	११५
स्फूर्जत्पेनावलि	३	१३६	हरहसितसितानि	४१	९९
स्मार्तपथ	७	१२५	हरिणीदरा	४९	१२८
स्मशित्नी तनु	४	१२५	हरिहरिति रथाङ्गा	२५	११६
स्मितसरोज	५	१२५	हारान्तप्रदम	३	१०४
स्नेहकास्मीर	९	१३०	हिमभरस्य तप	३०	१२६
स्वदिवसपरि	८	११५	द्वर्त्तिन	८	१०४